मम्मट

भारतीय साहित्य के निर्माता

मम्मट

जगन्नाथ पाठक

साहित्य अकादेमी

Mammat : A monograph in Hindi by Jagan Nath Pathak on the medieval Sanskrit author. Sahitya Akademi, New Delhi (1999) Rs. 25.

© साहित्य अकादेमी

प्रथम संस्करण · 1992
पुनर्मुद्रण · 1999

साहित्य अकादेमी

मुख्य कार्यालय
रवीन्द्र भवन, फ़ीरोज़शाह रोड़, नयी दिल्ली 110 001
विक्रय विभाग : स्वाति, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय
जीवन तारा बिल्डिंग, चौथी मंजिल, 23 ए/44 एक्स,
डायमंड हार्बर मार्ग, कलकत्ता 700053
गुना बिल्डिंग, दूसरी मंजिल, 304-305, अन्ना सलाई, तेनामपेट,
चेन्नई 600018
172, मुम्बई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुम्बई 400014
ए डी ए रंगमन्दिर, 109, जे० सी० मार्ग, बैंगलोर 560002

ISBN 81-7201-298-5

मूल्य : पच्चीस रुपये

मुद्रक : अजित प्रिंटर्स, दिल्ली

लेखकीय

मम्मट और काव्यप्रकाश, ये दोनों ही कुछ इस प्रकार मिलकर एक हो गये हैं कि एक की चर्चा बिना दूसरे की चर्चा पूर्ण नहीं हो सकती। प्रस्तुत पुस्तिका मे काव्यप्रकाश के आधार पर संक्षेप में मम्मट के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का आकलन प्रस्तुत किया गया है। काव्यप्रकाश की शास्त्रीय दुरूहता उस पर लिखित टीकाओ की सख्या को ध्यान में लेते ही स्पष्ट हो जाती है। अतः यहां बहुत बातें मात्र निर्देश के उद्देश्य से कही गयी हैं। जिज्ञासु पाठक मूल ग्रन्थ का अनुसन्धान करके ही सन्तुष्ट हो सकते हैं।

मम्मट का भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में एक विशेष प्रकार का महत्त्व है। यद्यपि मम्मट किसी सम्प्रदाय-विशेष के प्रवर्तक नहीं थे, फिर भी उनका महत्त्व किसी सम्प्रदाय-विशेष के प्रवर्तक आचार्य की अपेक्षा कम नहीं माना जाता। इसका मुख्य कारण है कि मम्मट के बाद भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में काव्यशास्त्रीय चिन्तन की व्यवस्थित एवं गम्भीर धारा प्रवर्तित हो जाती है, जिसमें उनकी भूमिका का महत्त्व प्रायः सबने स्वीकार किया है। इस प्रकार मम्मट आचार्य आनन्दवर्धन के बाद दूसरे सर्वमान्य आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित हैं। यदि कुछ इनका विरोध भी हुआ है तो वह बहुत कुछ स्थायित्व लाभ नहीं कर सका है और उससे मम्मट के महत्त्व पर किसी प्रकार की आंच नहीं आ सकी है।

प्रस्तुत पुस्तिका में पूर्व व्याख्याकारों तथा अन्य आलोचकों द्वारा निर्दिष्ट सामग्री का उपयोग प्रायः नामोल्लेखपूर्वक किया गया है। अतः उनके प्रति लेखक हृदय से आभारी है। साथ ही, साहित्य

अकादेमी के प्रति भी वह अपना आभार व्यक्त करता है जिसने उसे कुछ लिखने के लिए प्रेरित किया ।

जम्मू
विजय दशमी **जगन्नाथ पाठक**
20-10-88

अनुक्रम

प्रथम अध्याय

मम्मट : व्यक्तित्व और कृतित्व

भारतीय अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में काव्यप्रकाश के सुप्रसिद्ध रचयिता मम्मट का स्थान एक विशेष महत्त्व रखता है । मम्मट ने यद्यपि किसी विशेष सिद्धान्त या सम्प्रदाय का प्रवर्तन नहीं किया, तथापि उन्होंने पूर्व आचार्यों के सिद्धान्तों को व्यवस्थित एवं स्पष्ट किया और काव्य के सन्दर्भ में उनका स्थान निर्धारित किया । यही कारण है कि मम्मट के बाद अलङ्कारशास्त्र में एक नई धारा का आरम्भ हुआ और मम्मट द्वारा निर्णीत विचारों की अधिकांश सम्पुष्टि हुई । मम्मट के कृतित्व की गम्भीरता ने बाद के विचारकों को इतना प्रभावित किया कि उन्होंने उसकी अनेक व्याख्याएँ लिखी और आश्चर्य है कि व्याख्याओं का क्रम किसी न किसी रूप में आज भी बना हुआ है । महामहोपाध्याय पी. वी. काणे ने मम्मट के कृतित्त्व की तुलना वेदान्त के शारीरक भाष्य और व्याकरण के महाभाष्य से की है । यह ठीक ही है, क्योंकि अलङ्कारशास्त्र को मम्मट के बाद गतिशील होने में नया आयाम एवं विस्तार मिला ।

हम इन्हीं बातों को आगे के पृष्ठों में स्पष्ट करेंगे और मम्मट के व्यक्तित्त्व और कृतित्व का एक सम्बद्ध आकलन, अपनी सीमा में प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे ।

यह ज्ञातव्य है कि अनेक प्राचीन ग्रन्थकारो की भांति मम्मट ने भी अपने विषय में कुछ भी नहीं कहा है । हम उनका समय, जीवन, कुटुम्ब आदि बाह्य प्रमाणों के आधार पर निर्धारित करते हैं । उनके नाम से ही स्पष्ट हो जाता है कि वे कश्मीरवासी थे, क्योंकि इस प्रकार के टकारान्त नाम कैयट, उद्भट, भल्लट, अल्लट आदि अधिकतर कश्मीरवासी ग्रन्थकारो के मिलते हैं ।

मम्मट के सम्बन्ध में काव्यप्रकाश की "सुधासागर" या "सुधोदधि" टीका के रचयिता भीमसेन, जिन्होंने 1723 ई. में अपनी टीका समाप्त की, कुछ ज्ञातव्य बातों की जानकारी टीका के आरम्भ में देते हैं—

शब्दब्रह्म सनातनं न विदितं शास्त्रैः क्वचित् केनचित्
तद्देवी हि सरस्वती स्वयमभूत् काश्मीरदेशे पुमान् ।
श्रीमज्जैयटगेहिनीसुजठराज्जन्माप्य युग्मानुजः
श्रीमन्मम्मटसंज्ञयाश्रितनुं सारस्वतीं सूचयन् ।।4।।
मर्यादां किल पालयन् शिवपुरीं गत्वा प्रपठ्यादरात्
शास्त्रं सर्वजनोपकाररसिकः साहित्यसूत्रं व्यधात् ।
तद्वृत्तिं च विरच्य गूढमकरोत् काव्यप्रकाशं स्फुटं
वैदग्ध्यैकनिदानमर्थिषु चतुर्वर्गप्रदं सेवनात् ।।5।।
कस्तस्य स्तुतिमाचरेत् कविरहो को वा गुणान् वेदितुं
शक्तः स्यात् किल मम्मटस्य भुवने वाग्देवतारूपिणः ।
श्रीमान् कैयट औवटो ह्यवरजो यच्छात्रतामागतो
भाष्याब्धिं निगमं यथाक्रममनुव्याख्याय सिद्धिं गतः ।।6।।

इन पद्यों से यह सूचित होता है कि मम्मट जैयट के पुत्र थे, उनके दो अनुज थे, कैयट और उवट या औवट । कैयट ने पतञ्जलि के महाभाष्य की व्याख्या लिखी और औवट ने वेद का व्याख्यान किया । मम्मट ने शिवपुरी (काशी) जाकर शास्त्र का अध्ययन किया, और "साहित्यसूत्र" की रचना करके "काव्यप्रकाश" के रूप मे उस पर वृत्तिग्रन्थ का निर्माण किया । उन्होने अपने दोनों अनुजों को पढ़ाया । वे वाग्देवता सरस्वती के अवतार थे ।

भीमसेन के इस वक्तव्य को वामनाचार्य झलकीकर प्रभृति अनेक विद्वानों ने सम्पूर्णतया "प्रमाण" नहीं माना है । पं. झलकीकर "मम्मट के भ्राता औवट" को लेकर संशय व्यक्त करते हुए औवट द्वारा रचित वाजसनेयसंहिताभाष्य की दो पाण्डुलिपियों में उपलब्ध इन दो पद्यों को "काव्यप्रकाश" पर लिखित अपनी "प्रस्तावना" मे उद्धृत करते हैं—

"ऋष्यादींश्च पुरस्कृत्य अवन्त्यामुवटो वसन् ।
मन्त्रभाष्यमिदं चक्रे भोजे राष्ट्रं प्रशासति ।।"
"आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना ।
मन्त्रभाष्यमिदं क्लृप्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति ।।"

इस के अनुसार औवट "वज्रट के पुत्र" सिद्ध होते हैं, जैयट के नहीं । साथ ही वे भोज के समकालीन थे, जब कि मम्मट का समय भोज के पश्चात् निर्धारित होता है । यद्यपि औवट को काश्मीरदेशीय जैयट गोत्र में उत्पन्न वज्रट का दत्तकपुत्र मान भी लिया जाय तथापि मम्मट के भोजराज के समकालिक होने की बात फिर भी नही बनती । पं. झलकीकर की भांति म. म. काणे भी भीमसेन के वक्तव्य से सहमत नहीं हैं । वे उवट का मम्मट का भाई होना सम्भव नहीं मानते, उनका विचार है, कि ऐसी स्थिति में मम्मट का जैयट के पुत्र कैयट का भाई होना नहीं बन सकता । इस प्रकार एस. के. डे महाशय भी उवट के साथ मम्मट के सम्बन्ध के पक्ष में नहीं है ।

प्रो. ए. बी. गजेन्द्रगडकर भीमसेन को केवल इस आधार पर कि वे मम्मट से छ सौ वर्ष से भी अधिक बाद के टीकाकार हैं, सरलता से अविश्वसनीय ठहराने के पक्ष मे नहीं है । उन्होंने भीमसेन के वक्तव्य को तीन भागों में विभाजित करके उसकी परीक्षा की है । उनके अनुसार, भीमसेन के वक्तव्य के ये तीन भाग हैं— (1) मम्मट कश्मीर में उत्पन्न हुए, उन्होंने काशी में अध्ययन किया और वहीं "काव्यप्रकाश" लिखा (2) वे जैयट के पुत्र थे तथा कैयट और उवट के भाई थे (3) वे वाग्देवता सरस्वती के अवतार थे ।

मम्मट का कश्मीरवासी होना किसी बाधक प्रमाण के अभाव में सामान्यतः स्वीकार ही किया जाता है । साधक प्रमाण के रूप में कुछ कारण इस प्रकार दिये जाते हैं । एक तो यह कि "मम्मट" यह नाम कश्मीरी नामों के अनुरूप है—जैसे, अल्लट, उद्भट, उवट, औवट, कैयट, जैयट, भल्लट, रुद्रट और लोल्लट आदि; दूसरे यह कि मम्मट अन्य अनेक कश्मीरियों की भांति "राजानक" की उपाधि से भूषित थे । मम्मट विरचित "शब्दव्यापारविचार" की 'पुष्पिका'

में निर्दिष्ट है-"इति निखिलविपश्चिच्चक्रवर्ति श्री राजानकमम्मटाचार्य-विरचितः शब्दव्यापारविचारः समाप्तः । (निर्णयसागर संस्करण) । राजानक अर्थात् राजा के सदृश, यह उपाधि कश्मीरी लेखकों में ही प्रचलित थी और अब भी कश्मीरी पण्डितों में ही प्रचलित हैं; तीसरे यह कि काव्यप्रकाश के पंचम उल्लास में, मम्मट ने "चिङ्कु" पद को अश्लील अर्थ का व्यंजक बताया है इस पर अपनी "काव्यप्रकाशदर्पण" नाम की व्याख्या में साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने लिखा है-"चिङ्कुपदं कश्मीरादिभाषायामश्लीलार्थबोधकम्" इससे भी मम्मट की मातृभाषा कश्मीरी होना सिद्ध होता है; चौथे यह कि अल्लट को काव्यप्रकाश के दशम उल्लास मे 'परिकर' अलङ्कार के बाद के भाग का लेखक माना जाता है । सम्भव है मम्मट अल्लट के मित्र हों—इन सभी कारणों से मम्मट का कश्मीरवासी होना सिद्ध होता है ।

मम्मट ने काशी में अध्ययन किया होगा यह बात असम्भव नही, क्योकि काशी प्राचीन विद्याकेन्द्र रही है और कमोवेश आज भी है । मम्मट के साथ उनके भाई और मित्र भी गये होंगे ।

अब हम भीमसेन के वक्तव्य के दूसरे भाग पर आते है—मम्मट जैयट के पुत्र तथा कैयट और उवट के भाई थे । इस भाग को पर्याप्त कारण के अभाव में अधिकतम अविश्वस्त माना गया है । कैयट ने स्वयं को जैयट का पुत्र कहा है-

महाभाष्यार्णवावारपारीणं विवृतिप्लवम् ।
यथागमं विधास्येऽहं कैयटो जैयटात्मजः ।।

(महाभाष्य प्रदीप, आरम्भ का 5वा पद्य)

इसमें भीमसेन के वक्तव्य पर विश्वास न करने की कोई बात ही नहीं, किन्तु जैयट और उवट के सम्बन्ध को लेकर कठिनाई उपस्थित होती है । उवट ने अपने को वज्रट का पुत्र माना है, तब वे मम्मट और कैयट के भाई कैसे हो सकते हैं ? जैयट के पुत्र कौन थे ?

इस प्रसंग में प्रो. गजेन्द्रगडकर ने इण्डिया आफिस लाइब्रेरी लन्दन की संस्कृत पाण्डुलिपियों के जुलियस इगलिग द्वारा प्रस्तुत कैटलाग

(भाग 1 पृ. 29) का उद्धरण देकर बताया है कि 186 और 187 संख्याओं की वाजसनेयी संहिता के मन्त्रभाष्य की पाण्डुलिपियों में दो पद्यों में उवट ने अपने पिता को जैयट और वज्रट दोनों नाम दिये हैं-

आनन्दपुरवास्तव्यजैयटाख्यस्य सूनुना ।
उवटेन कृतं भाष्यं पदवाक्यैः सुनिश्चतैः ।।
आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना ।
मन्त्रभाष्यमिदं क्लृप्तं पदवाक्यैः सुनिश्चितैः।।

प्रो. गजेन्द्रगडकर के अनुसार यहाँ उवट के पिता के सही नाम के निर्णय का प्रश्न है । जैयट की अपेक्षा वज्रट को अधिक स्वीकार करने का कोई कारण नही, ज़ब कि "जैयट" के पक्ष में भीमसेन का वक्तव्य है । "जैयट" नाम सही लगता है और "वज्रट" उसका गलत रूप हो सकता है अथवा लिपिकार गलती से "जैयट" के स्थान पर "वज्रट" लिख गया है । अथवा, उवट के पिता के दो नाम हो—जैयट और वज्रट, अथवा वज्रट ने सम्भवतः अपने किसी सम्बन्धी जैयट के पुत्र उवट को गोद ले लिया हो ।

प्रो. गजेन्द्रगडकर का विश्वास भीमसेन द्वारा मम्मट के सम्बन्ध में दिये वक्तव्य पर निराधार नहीं है, क्योंकि उवट ने ऊपर के उद्धरण के आधार पर अपने पिता का नाम जैयट भी दिया है ।

उवट ने जो यह कहा है कि उन्होने भोज के राज्य काल मे उज्जयिनी में शुक्लयजुर्वेद पर अपना भाष्य लिखा, वह मम्मट से उवट के सम्बन्ध के विरुद्ध नहीं ठहरता । इस पर प्रो. गजेन्द्र-गडकर का विचार है कि मम्मट बहुत कुछ भोज के समकालिक थे । उनके अनुसार जैयट के पुत्र—मम्मट, कैयट और उवट कश्मीर के वासी थे । कश्मीर के, न कि गुजरात के किसी आनन्दपुर नामक स्थान में उनका परिवार रहता था, जहां से तीनों भाई अध्ययनार्थ काशी गये । मम्मट ने काशी में काव्यप्रकाश की रचना की । उवट भोज के यहां उज्जयिनी में रहे और उन्होंने शुक्लयजुर्वेद पर अपना भाष्य लिखा ।

भीमसेन ने मम्मट को वाग्देवता के अवतार के रूप में निर्दिष्ट

किया है । बहुत लोगों को उनका यह कथन अतिशयोक्ति लगता है । इस कथन में वक्ता का तात्पर्य आकलनीय है न कि शब्द का अर्थ । काव्यप्रकाश की अलौकिकता से प्रभावित होकर ही भीमसेन ने उन्हें सरस्वती का अवतार लिखा है (किंच नायमाचार्यो मानुषः किन्तु वाग्देवतैव, प्रमाणं तु ग्रन्थस्यालौकिकत्वम्–सुधांसागर पृ. 4) मम्मट के पाण्डित्य के विषय में हम आगे चर्चा करेंगे ।

मम्मट की कृतियां –

मम्मट की दो कृतियों की ही जानकारी मिलती है—काव्यप्रकाश और शब्दव्यापारविचार । वस्तुतः मम्मट की दिगन्तव्यापिनी कीर्ति का एक मात्र आधार है उनका काव्यप्रकाश । दूसरी रचना लघु तथा बहुत सामान्य है और यह भी काव्यप्रकाश की भांति ही कारिका वृत्ति और उदाहरण के रूप मे निर्मित है । इसका प्रथम बार प्रकाशन मुकुलभट्ट की "अभिधावृत्तिमातृका" के साथ, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से 1916 ई. में हुआ था । मम्मट ने अपनी इस दूसरी कृति का निर्माण काव्यप्रकाश के पश्चात् किया, क्योंकि इसके अन्त में वे लिखते हैं—एतच्च अन्यत्र विस्तेरण विचारितमिति संक्षेपेण इह उक्तमिति शिवम् । यहा स्पष्ट ही मम्मट का "अन्यत्र" शब्द "काव्यप्रकाश" की ओर सकेत करता है । आफ्रेख्ट ने मम्मट की तीसरी कृति "संगीत-रत्नमाला" का निर्देश किया है, जिसका उल्लेख "संगीतनारायण" में मिलता है । वल्लभदेव की "सुभाषितावली" में एक पद्य उद्धृत है, जिसके साथ "मम्मट" का नाम निर्दिष्ट है— (स. 432 लन्वङ् गया गजकुम्भपीन.) किन्तु यह "मम्मट" की दोनों कृतियों में नहीं मिलता । प्रो. गजेन्द्रगडकर का कहना है कि मम्मट की कोई चौथी रचना होगी जिससे उद्धृत किया गया लगता है ।

मम्मट का समय –

जिस प्रकार संस्कृत के अनेक प्राचीन ग्रन्थकारों ने अपने समय तथा अपने जीवन के सम्बन्ध में बिलकुल मौन अवलम्बन कर लिया है उसी प्रकार मम्मट ने भी अपने बारे में कुछ भी नही कहा

है । फिर भी अनेक बाह्य तथा आभ्यन्तर प्रमाणों के आधार पर मम्मट का समय निश्चित रूप से निर्धारित हो सका है । ईसा की ग्यारहवीं शती के मध्य, 1050 ई. में मम्मट का होना प्रमाणित होता है ।

काव्यप्रकाश में मम्मट ने अभिनवगुप्त के विचार उदधृत किये हैं । उनका कार्यकाल 990 ई. से 1020 ई. के बीच का माना गया है । अतः मम्मट का इसके बाद का होना स्वतः सिद्ध है । इसी प्रकार मम्मट ने पद्‌मगुप्त के "नवसाहसांकचरित" के कुछ पद्यों को का. प्र. मे उद्‌धृत किया है । नवसाहसांकचरित की रचना पद्‌मगुप्त ने लगभग 1020 ई. में की थी, इससे भी मम्मट का 1020 के पश्चात् होना सिद्ध होता है । अलङ्कारसर्वस्व के रचयिता रुय्यक भी अनेक बार मम्मट के काव्यप्रकाश को उद्‌धृत करते हैं तथा उसकी आलोचना भी करते है । रुचक के नाम से उनका काव्यप्रकाश पर व्याख्यान (संकेत) भी मिलता है । अलकारसर्वस्व की रचना रूय्यक ने 1135 और 1155 के बीच की । इस प्रकार काव्यप्रकाश का 1150 ई. के पूर्व निर्मित होना माना जा सकता है । जैन विद्वान माणिक्यचन्द्र ने भी का. प्र. की "संकेत" व्याख्या 1159-1160 मे लिखी । इससे भी सिद्ध होता है कि मम्मट ने काव्यप्रकाश की रचना 1150 ई. के पूर्व कर ली थी ।

एक बात जो इस क्रम में विशेष उल्लेखनीय है, वह है, काव्यप्रकाश के दशम उल्लास में "उदात्त" अलंकार के उदाहरण में भोजराज की उदारता के प्रशस्तिपरक इस पद्य का उद्‌धरण—

मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः सम्मार्जनीभिर्हृताः
प्रातः प्राङ्‌गणसीम्नि मन्थरचलद्‌बालाङ्‌घ्रिलाक्षारुणाः ।
दूराद् दाडिमबीजशङ्‌कितधियः कर्षन्ति केलीशुका
यद्‌विद्वद्‌भवनेषु भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम् ।।505।।

(विद्वानों के भवनों में, क्रीडा के प्रसंग में टूट कर गिरे तथा झाडुओं से बुहारकर हटाये गये एवं प्रातः काल आंगन में चलती नवेलियों के चरणों के आलक्तक से लाली को प्राप्त मौक्तिकों को अनार के बीज की भ्रान्ति से जो क्रीडाशुक दूर तक खीचते हैं वह राजा भोज के त्याग का चमत्कार (लीलायित) है ।

इस पद्य से "सरस्वतीकण्ठाभरण" के रचयिता परमार वंशज राजा भोज मम्मट से पूर्ववती प्रमाणित होते हैं । इस पद्य का लेखक कौन है, यह ज्ञात नहीं है । यह भी असम्भव नहीं कि स्वयं मम्मट ने इसकी रचना की हो । मम्मट के अनुज उवट ने अपना भोज के राज्यकाल में होना निर्देश किया है । इस पद्य में प्रयुक्त वर्तमान काल से प्रतीत होता है कि इसकी रचना भोज के समय मे हुई है, भले ही इसका लिखने वाला कोई और ही हो । भोज का राज्यकाल 1005 ई. से 1054 तक था । इस प्रकार मम्मट ने इसे अपने काव्यप्रकाश में लगभग 1050 ई. में उद्धृत किया हो । इस आधार पर उनका समय ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी का मध्य भाग निश्चित होता है । प्रो. गजेन्द्रगडकर का कहना है कि यदि उक्त पद्य की रचना मम्मट ने न भी की हो और उवट से उनके सम्बन्ध पर विश्वास न भी किया जाय तब भी मम्मट का समय 1050 ई. से 1150 ई. के बीच निर्धारित होता है । यह कहा जा सकता है कि मम्मट ने ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में काव्यप्रकाश की रचना की और यथासम्भव पचास वर्षो के बाद रूय्यक और माणिक्यचन्द्र ने उसके महत्त्व को स्वीकार कर उस पर व्याख्याए लिखीं ।

मम्मट और श्रीहर्ष –

कश्मीरी पण्डितों में प्रचलित किंवदन्ती कुछ इस प्रकार है कि मम्मट नैषधीयचरित महाकाव्य के रचयिता श्रीहर्ष के मामा (मातुल) थे । जब श्रीहर्ष ने नैषध की रचना पूरी कर ली तब मामा जी के समक्ष, उनकी सम्मति के लिए उसे प्रस्तुत किया । नैषध को पढ़ कर मम्मट ने खेद व्यक्त करते हुए कहा कि यदि काव्यप्रकाश के दोष-प्रकरण (सप्तम उल्लास) के लिखने के पूर्व नैषध मिला होता तो उन्हें दोषों के उद्धरण ढूंढ़ने का कठोर श्रम न करना पड़ता, (क्योंकि सभी दोषों के उद्धरण एक ही स्थान, अर्थात् नैषध में मिल जाते) । सम्भवतः इसी क्रम में यह भी कहा जाता है कि मम्मट ने उदाहरण स्वरूप नैषध के द्वितीय सर्ग के इस श्लोक का निर्देश भी किया–

तव वर्त्मनि वर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः ।
अधिसाधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः ।।

(यहां "तव वर्त्म निवर्ततां शिवं" इस प्रकार सहज भाव से पढ़े जाने पर "विरुद्धमतिकृत्" या इसी प्रकार का कोई दोष प्रतीत होता है)

किन्तु मम्मट और श्रीहर्ष के इस सम्बन्ध के विषय में ऐतिहासिकों का समर्थन प्राप्त नहीं है, क्योंकि नैषधकार श्रीहर्ष ईसा की बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए, जब कि मम्मट का समय जैसा कि हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं, ईसा की ग्यारहवीं शती का लगभग मध्य काल था । अतः दोनों को समकालिक नहीं माना जा सकता । उपर्युक्त किंवदंती सम्भव है नैषध के प्रति आस्था न रखने वाले ने प्रचलित कर दी हो ।

मम्मट का पाण्डित्य —

काव्यप्रकाश के अध्ययन के आधार पर मम्मट के अद्‌भुत पाण्डित्य की कल्पना की जा सकती है । का. प्र. को उसके टीकाकार "आकर" ग्रन्थ की सज्ञा देते हैं । नागेश-भट्ट ने "वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा" में "तदुक्तं काव्यप्रकाशे" कह कर अपने वक्तव्य की पुष्टि में काव्यप्रकाश को प्रमाण रूप में उद्‌धृत किया है । वामनाचार्य झलकीकर मम्मट को "अनुपम पण्डित" तो मानते ही है, साथ ही उंन्हें सभी शास्त्रों के तत्त्व (रहस्य) के ज्ञाता मान कर मुख्य रूप से "वैयाकरण" मानते हैं । भीमसेन ने, जैसा कि हमने ऊपर कहा है, मम्मट को "वाग्देवतावतार" कहा है और काव्यप्रकाश पर शिथिलता का आरोप लगाने वाले गोविन्दठक्कुर (प्रदीपकार) के पक्ष का युक्तियों द्वारा खण्डन करके लिखते है—"तस्माद् गोविन्दमहामहोपाध्यायानामीर्ष्यामात्रमवशिष्यते । न हि गीर्वाणगुरवोऽपि श्रीवाग्देवतावतारोक्तिमाक्षेप्तुं प्रभवन्ति किम्पुनर्मानुषा मशकाः ।" (अतः गोविन्द महामहोपाध्याय की ईर्ष्या मात्र रह जाती है, क्योंकि देवताओं के गुरु भी वाग्देवता के अवतार मम्मट के कथन का आक्षेप अर्थात् निराकरण नहीं कर सकते, सामान्य मशक जैसे मनुष्यों की बात ही क्या ?)

किन्तु, यहां, मम्मट का व्याकरण शास्त्र के प्रति कुछ अधिक पक्षपात देख कर हम उन्हें व्याकरणशास्त्र के विशेष पं. झलकीकर जी की भांति "मुख्यतया वैयाकरण" मानने के पक्ष में नहीं हैं। वस्तुतः मम्मट अलंकार शास्त्र के अभिनिविष्ट विद्वान् थे और बड़ी गहराई से अपने पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों ने जो स्थापनाएं कीं उनकी छानबीन करके ही उन्होने अपने "आकर" ग्रन्थ काव्यप्रकाश का निर्माण किया। इसी लिए "रसगङ्गाधर" के रचयिता पण्डितराज जगन्नाथ ने उन्हें "व्युत्पन्नशिरोमणि" कह कर उनके प्रति आदर का भाव व्यक्त किया है।

काव्यप्रकाश की एक व्याख्या "निदर्शना" के लेखक राजानक आनन्द अपनी टीका के आरम्भ में मम्मट का इन शब्दों मे परिचय देते हैं—"इति शिवागम-प्रसिद्धया षट्त्रिंशत्तत्वदीक्षा-क्षपितमलपटलः प्रकटितसत्स्वरूपश्चिदानन्दघनः राजानककुलतिलको मम्मटनामा देशिकवरः"। इस प्रकार मम्मट कश्मीर के शैवागम शास्त्र के उपदेष्टा तथा तदनुसार साधक आचार्य थे।

मम्मट व्याकरण शास्त्र के गम्भीर विद्वान् थे, इस बात की पुष्टि के लिए प्रमाण दिये जाते हैं, जैसे, द्वितीय उल्लास मे, जहां संकेतित अर्थ के जाति आदि भेद बतायें हैं वहा मम्मट ने जाति मात्र को संकेतित न मान कर वैयाकरणों के मतानुसार जाति आदि संकेतित अर्थ के चार भेदों का उल्लेख करके उसके प्रति अपना पक्षपात व्यक्त किया है। इसी प्रकार "शब्दव्यापारविचार" में भी जात्यादि पक्ष को ही युक्ति-पूर्वक स्थापित किया है और मीमांसक द्वारा जाति मात्र पक्ष का निराकरण किया है।

काव्यप्रकाश में प्राप्त उद्धरणों का आकलन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मम्मट को पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा, न्याय तथा वैशेषिक, सांख्य और योग आदि का पर्याप्त ज्ञान था। उनका काव्यप्रकाश एक ओर उनके मार्मिक पाण्डित्य का परिचायक तो है ही, उनकी ग्रन्थनिर्माण की अद्भुत क्षमता या कौशल को भी सूचित करता है। सम्पूर्ण रचना एक ही काव्य-लक्षण पर आधारित है। एक बात और हम कह सकते हैं कि काव्यप्रकाश में भाषा

की संक्षिप्तता और अर्थ का गौरव समान रूप से आद्योपान्त लक्षित होते हैं ।

काव्यप्रकाश का कर्तृत्व —

काव्यप्रकाश के निर्माता के रूप में सामान्यतः मम्मट को ही जाना एवं माना जाता है, किन्तु अनेक प्रमाणों के आधार पर मम्मट को सम्पूर्णतया काव्यप्रकाश का निर्माता मानना सम्भव नही । इस प्रसंग को स्पष्ट रूप से जानने के पूर्व हमें काव्यप्रकाश का स्वरूप जान लेना आवश्यक है । काव्यप्रकाश तीन भागों मे विभाजित है कारिकाभाग, वृत्तिभाग और उदाहरण-भाग । कारिका-भाग में मूल विषय को सूत्रात्मक शैली में निर्दिष्ट किया गया है । वृत्ति-भाग में कारिकाओं में निर्दिष्ट विषय का व्याख्यान किया गया है । उदाहरण-भाग मे अधिकतर प्राचीन आचार्यो के तथा प्राचीन कवियों के पद्य हैं । किन्हीं-किन्हीं पद्यों में उनके रचनाकार के विषय में सन्देह व्यक्त किया जाता है और सम्भव है, स्वयं मम्मट उनके रचयिता हों । विशेष रूप से भोज नृपति की उदारता को व्यक्त करने वाले पद्य के सम्बन्ध में हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं ।

जहां तक कारिका-भाग के कर्तृत्व का प्रश्न है, कहा जाता है, कि ये नाट्य-शास्त्र भरत द्वारा रचित हैं और मम्मट ने उन पर वृत्ति का निर्माण किया है । इस विचार को व्यक्त करने वाले काव्यप्रकाश के दो व्याख्याकार हैं—महेश्वर न्यायालंकार (सत्रहवीं शताब्दी ई. का आरम्भ) और बलदेव विद्याभूषण (अट्ठारहवीं शताब्दी ई.) ।

महेश्वर ने का. प्र. की व्याख्या "काव्यप्रकाशादर्श" अथवा "काव्यप्रकाश-भावार्थचिन्तामणि" लिखी है । आरम्भ में वे लिखते हैं—"सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत्यकाव्यरसास्वादकारणमलङ्कारशास्त्र कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान् ।" (अर्थात् भरतमुनि ने सुकुमार राजकुमारों को स्वादु काव्य में प्रवृत्ति द्वारा गहन अन्य शास्त्र में प्रवृत्त करने के उद्देश्य से, अग्निपुराण से उद्धृत करके काव्य-

रस के आस्वाद के कारण स्वरूप काव्यशास्त्र को कारिकाओं द्वारा संक्षिप्त करके बनाया है)

इसी प्रकार काव्यप्रकाश की कारिकाओ पर स्वतंत्र रूप से वृत्ति का निर्माण करने वाले साहित्यकौमुदी के लेखक श्री बलदेव विद्याभूषण लिखते है—

मम्मटाद्युक्तिमाश्रित्य मितां साहित्यकौमुदीम् ।
वृत्तिं भरतसूत्राणां श्रीविद्याभूषणो व्यधात् ।।

सा. कौ. पुष्पिका

कारिका-भाग के भरतमुनि द्वारा निर्मित होने के पक्ष में कुछ तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं, वे हैं—

1. काव्यप्रकाश की कुछ कारिकाए भरत के नाट्यशास्त्र में भी पायी जाती हैं । जैसे, चतुर्थ उल्लास की 29 से 34 कारिकाएं नाट्यशास्त्र 6/5,17-21 में समान रूप से प्राप्त हैं ।

2. मम्मट ने मंगलाचरण पद्य की अवतरणिका मे कारिकाओं के लेखक को अन्य पुरुष में निर्दिष्ट किया है—ग्रन्थकृत् परामृशति । यदि स्वय कारिकाओं के रचयिता मम्मट होते तो अन्यपुरुष के स्थान पर उत्तमपुरुष का प्रयोग करते ।

3. दशम उल्लास के रूपक-अलंकार में कारिका ग्रन्थ मे समस्तवस्तु विषय साग रूपक में "आरोपिताः" इस प्रकार बहुवचन का प्रयोग किया गया है । वृत्तिग्रन्थ में लिखते हैं "आरोपिता इति बहुवचनमविवक्षितम्" यदि दोनों का रचयिता एक होता तो कारिका ग्रन्थ में उसने बहुवचन के स्थान पर द्विवचन का प्रयोग किया होता ।

किन्तु उपर्युक्त बंगवासी दोनों व्याख्याकारो का यह पक्ष विचार करने पर दृढमूल नहीं रह पाता । मम्मट केवल वृत्तिकार नही, कारिकाकार भी थे, इस पक्ष में अनेक तर्कसंगत युक्तियां दी जाती हैं, जैसे—

1. वृत्तिग्रन्थ में कहीं भी मम्मट ने इसका संकेत नहीं दिया है कि उन्होने भरत द्वारा निर्मित कारिकाओं की व्याख्या लिखी है । यदि कारिकाएं भरत द्वारा निर्मित होती तो मम्मट अपने

वृत्तिग्रन्थ के आरम्भ में अवश्य उनका उल्लेख करते ।

2. मम्मट ने अपने वृत्तिग्रन्थ का अलग से कोई मंगलाचरण पद्य नहीं लिखा । यदि वे वृत्तिग्रन्थ मात्र के रचयिता होते तो श्री बलदेव विद्याभूषण की भांति उन्होंने भी वृत्तिग्रन्थ के आरम्भ में अलग मंगलाचरण पद्य लिखा होता ।

3. भरत के अनुसार रसों की संख्या आठ है । उन्हें मम्मट ने स्वीकार करते हुए भरत की कारिका को यथावत् ले लिया है और अपनी ओर से शान्त को नवम रस बताया है (निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः) । यदि कारिकाएं भरत द्वारा निर्मित होतीं तो नाट्यशास्त्र के अनुसार रसों की संख्या आठ मात्र होती ।

4. रस-प्रकरण में, वृत्तिग्रन्थ के आरम्भ में रस के स्वरूप का निर्देश करते हुए मम्मट ने अपने समर्थन मे भरत के नाट्यशास्त्र की इस पक्ति को उद्धृत किया है-तदुक्तं हि भरतेन-"विभावानुभावसंचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः" यदि मम्मट ने भरत की कारिकाओं पर व्याख्यान लिखा होता तो "तदुक्तं हि भरतेन" लिखकर भरत के वक्तव्य को उद्धृत न करते ।

5. मालारूपक के लक्षण (दशम उल्लास) में "माला तु पूर्ववत्" में प्रयुक्त "पूर्ववत्" मालोपमा का निर्देश करता है और मालोपमा केवल वृत्तिग्रन्थ में उल्लिखित है । इससे स्पष्ट है कि कारिकाकार इस बात से अवगत है । वह वृत्ति ग्रन्थ में पहले मालोपमा की चर्चा कर चुका है ।

6. नाट्यशास्त्र में केवल चार अलंकारों (उपमा, दीपक, रूपक और यमक) का उल्लेख है, जब कि काव्यप्रकाश में वर्णित 62 अर्थालंकार तथा 6 शब्दालंकार हैं । यदि भरत कारिकाकार होते तो नाट्यशास्त्र में जहां चार का उल्लेख करते हैं वहां अचानक इतनी संख्या में अलंकारों का निर्देश कैसे करते ?

7. जैसा कि महेश्वर और विद्याभूषण ने निर्देश किया है कि भरत ने कारिकाओं को "अग्निपुराण" से लिया है यह बात भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि अग्निपुराण में अलंकारशास्त्र से सम्बद्ध

विषय (अध्याय 336-346) नवीं शताब्दी अथवा दसवीं शताब्दी ईस्वी के आरम्भ में ले लिया गया है । नाट्यशास्त्र काव्यशास्त्र का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है जो ईसा की प्रथम शताब्दी के आरम्भ का है । अतः महेश्वर और विद्याभूषण का उपर्युक्त वक्तव्य निरस्त हो जाता है ।

8. काव्यप्रकाश के आरम्भिक व्याख्याकारो, माणिक्यचन्द्र (1159-60 ई.) सरस्वतीतीर्थ (1242 ई.) सोमेश्वर (तेरहवीं शताब्दी ई. का पूर्वार्ध) आदि ने कारिकाकार और वृत्तिकार में भेद नहीं किया है तथा कमलाकरभट्ट ने (1612 ई.) अपने व्याख्यान में "स्वकृतकारिका व्याचिख्यासुः आद्यश्लोकस्य अवतारिकामाह" लिखकर स्पष्ट रूप से कारिकाकार और वृत्तिकार के रूप में मम्मट को माना है । साथ ही अनेक परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने कारिकाग्रन्थ और वृत्तिग्रन्थ के रचयिता को एक लेखक की रचना मान कर ही उल्लेख किया है ।

मम्मट और अल्लट –

काव्यप्रकाश के कारिका-भाग और वृत्तिभाग, दोनो के रचयिता केवल मम्मट हैं, ऐसा प्रायः नहीं माना जाता, जब कि सामान्यतः मम्मट को ही उसका रचयिता होने की बात कही जाती है । मम्मट के अतिरिक्त एक और कश्मीरी विद्वान् अल्लट (अलट अथवा अलक) को भी इसके रचनाकार होने का श्रेय दिया जाता है । यद्यपि काव्यप्रकाश के रचयिता मम्मट और अल्लट, दोनों के होने में मतभेद नहीं है तथापि काव्यप्रकाश के कुछ अंश को लेकर कुछ अवश्य है । काव्यप्रकाश के अन्तिम पद्य "इत्येष मार्गो विदुषां" की व्याख्या करते हुए माणिक्यचन्द्र ने लिखा है—"अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समापित इति द्विखण्डोपि सङ्घटनावशादखण्डायते"। यही बात रुचक ने भी अपनी "संकेत" टीका में कही है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि आरम्भ का भाग एक लेखक (अर्थात् मम्मट) ने लिखा और जब वे किसी कारण इसे न समाप्त कर सके तो दूसरे लेखक ने इसे पूरा किया । दो लेखकों द्वारा रचित होने पर भी यह ग्रन्थ

अखण्ड-सा प्रतीत होता है ।

इससे यह बात स्पष्ट न हो सकी कि प्रथम लेखक (मम्मट) ने कितने अंश तक ग्रन्थ लिखा और दूसरे लेखक ने कितने अंश में ग्रन्थ को लिख कर पूरा किया । साथ ही, यह बात भी स्पष्ट नहीं हो सकी कि वह दूसरा लेखक कौन था । इस बात का स्पष्ट उल्लेख प्रथम बार राजानक आनन्द (1685 ई.) ने अपनी टीका "काव्यप्रकाश-निदर्शना" (अथवा "शितिकण्ठविबोधन") में इस पद्य द्वारा किया है—

"कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः ।
प्रबन्धः पूरितः शेषं विधायाल्लटसूरिणा ।।"

इससे स्पष्ट हो जाता है कि परिकर अलंकार तक की रचना मम्मट ने की और उसके बाद शेष भाग तक का निर्माण अल्लट सूरि, अलट या अलकसूरि ने किया । सम्भव है, मम्मट और अल्लट दोनों मित्र रहे हो अथवा परिकर अलकार तक लिखकर मम्मट दिवंगत हो चुके हों । तीसरे पक्ष के अनुसार सम्पूर्ण काव्यप्रकाश मम्मट तथा अलक या अल्लट की सम्मिलित रचना है, इसका 'अमरुकशतक' के एक टीकाकार अर्जुनवर्मदेव (मम्मट से लगभग एक सौ वर्ष बाद उत्पन्न) ने "भवतु विदित" इस पद्य का व्याख्यान करते हुए लिखा है-यथोदाहृतं दोषनिर्णये मम्मटालकाभ्याम्-"प्रसादे वर्तस्व" इत्यादि । इसी प्रकार अन्य स्थल पर उसी टीका में लिखते है-"किन्तु हुलादैकमयीवरलब्ध-प्रसादौ काव्यप्रकाशककारौ प्रायेण दोषदृष्टी" ।

काव्यप्रकाश-विषयसंक्षेप —

हम कह चुके हैं कि काव्यप्रकाश के तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण । कारिकाओं की संख्या 142 है तथा उदाहरण 600 से कुछ अधिक हैं । ग्रन्थ का विभाजन दस उल्लासों में किया गया है । कारिकाएं कहीं सम्पूर्ण तथा कहीं अंशतः विषय को सूत्रात्मक शैली में निर्देश करती हैं । कुछ टीकाकारों ने उन्हें सूत्र की संज्ञा दी है । वामनाचार्य ने 142 कारिकाओं को 212 सूत्रों में विभाजित किया है । वस्तुतः मम्मट की कारिकाओं अथवा कारिकांशों को "सूत्र"

कहना उचित प्रतीत नहीं होता । "सूत्र" गद्य में वस्तु-तत्त्व का स्मरणार्थ अति संक्षेपण होता है । जैसे पाणिनि के "वृद्धिरादैच्" आदि सूत्र । मम्मट ने कारिकाओं का निर्माण सूत्र-निर्माण की दृष्टि से नहीं किया था । यह तो कुछ टीकाकारों की उनके प्रति गहरी आस्था ही थी, जिससे उन्होने उनकी कारिकाओं को "सूत्र" कहा और मम्मट को "सूत्रकार" की प्रतिष्ठा दी ।

सम्पूर्ण "काव्यप्रकाश" द्वारा ग्रन्थकार का उद्देश्य है "काव्य" को सम्पूर्णतया प्रकाशित करना, अर्थात् काव्य को समझाना । इस प्रकार प्रथम उल्लास में दिये गये काव्य-लक्षण को ही विस्तार से स्पष्ट करने के लिए आगे के उल्लासों की संरचना हुई है-

प्रथम उल्लास- मंगलाचरण, काव्य के प्रयोजन, काव्य का हेतु, काव्य का लक्षण, काव्य के तीन भेद-उत्तम (ध्वनि), मध्यम (गुणीभूतव्यंग्य) और अवर (चित्र) ।

द्वितीय उल्लास- शब्द और अर्थ के तीन भेद, तात्पर्यार्थ, अर्थों की व्यंजकता । वाचक का लक्षण और सकेतित अर्थ के भेद । व्यंजनाव्यापार की, अभिधा अथवा लक्षणा से गतार्थता नहीं । शाब्दी व्यंजना ।

तृतीय उल्लास- आर्थी व्यंजना के भेदों का निरूपण ।

चतुर्थ उल्लास- ध्वनि काव्य के दो भेद और उनके प्रभेद, रस लक्षण, भरत के रस-सूत्र की चार व्याख्याएं, आठ रस, आठ स्थायीभाव, तैंतीस व्यभिचारी भाव, नवम रस, भाव, रसाभास और भावाभास । ध्वनि के अन्य प्रभेद ।

पंचम उल्लास- मध्यमकाव्य और उसके आठ भेद । व्यंजना व्यापार की स्थापना । मीमांसकों के आक्षेपों का खण्डन । वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का भेद । व्यंग्यार्थ का लक्ष्य अर्थ में अन्तर्भाव नहीं । वेदान्त-पक्ष में भी व्यङ्-ग्यव्यंजक भाव की स्वीकार्यता और व्यंग्य-प्रतीति के अनुमान में अन्तर्भाव का खण्डन ।

षष्ठ उल्लास- अवर काव्य, शब्दचित्र और वाच्य चित्र का

स्वरूप । शब्दालंकार में अर्थ के तथा अर्थालंकार में शब्द के गौण रूप से रहने की चर्चा ।

सप्तम उल्लास- दोष-लक्षण, पदगत-वाक्यगत-पदांशगत-अर्थगत-रसगत दोषो के भेद । रसों के परस्पर विरोध तथा अविरोध तथा रस दोष के अदोषत्व एवं गुणत्व का निरूपण ।

अष्टम उल्लास- गुणों का निरूपण । गुण और अलंकार में भेद का व्यवस्थापन । वामन के मत का खण्डन । गुणों की संख्या का निर्णय । औचित्य के महत्त्व की चर्चा ।

नवम उल्लास- शब्दालंकार और उसके भेद । अनुप्रास के प्रसंग में तीन वृत्तियों की चर्चा । चित्रकाव्य के भेद तथा पुनरुक्तवदाभास के दो प्रकारों की चर्चा ।

दशम उल्लास- अर्थालंकारों का निरूपण । संसृष्टि और संकर के भेद । अलंकारों के शब्दगत तथा अर्थगत होने के निर्णय के आधार अन्वयव्यतिरेक की चर्चा । अलंकार-दोषों का सप्तम उल्लास में निर्दिष्ट दोषों में अन्तर्भाव की चर्चा और ग्रन्थ की समाप्ति ।

शब्दव्यापारविचार : विषय संक्षेप --

मम्मट का यह दूसरा ग्रन्थ, जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, शब्द की वृत्तियों, अभिधा आदि के विषय में ग्रन्थकार के विचारों का संग्रह है । काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में भी शब्दवृत्तियो का विवेचन मिलता है । कुछ बातें काव्यप्रकाश से यहां अधिक हैं । मम्मट ने मुकुल भट्ट की कृति "अभिधावृत्तिमातृका" की प्रतिक्रिया में इस ग्रन्थ की रचना की थी । इसमें छ कारिकाएं और उन पर संक्षिप्त वृत्ति है ।

यद्यपि मम्मट ने अपने विषय में अपनी रचनाओं में कुछ भी नहीं लिखा है तथापि उनकी रचनाओं के माध्यम से उनके व्यक्तित्व का आकलन कुछ न कुछ सम्भव है । वे एक गम्भीर अध्येता, विचारक

और मितभाषी ग्रन्थकार प्रतीत होते हैं । बहुत विस्तृत बात को समेट कर अत्यन्त संक्षिप्त करके प्रस्तुत करने की कला में तो वे दक्ष थे ही, मूल में अनेक अस्पष्ट सी रह जाने वाली बातों को भी उन्होंने स्पष्ट कर दिया है । उनकी रचना काव्यप्रकाश की गम्भीरता का इससे बढ़ कर क्या प्रमाण हो सकता है कि उस पर अनेक प्रतिभाशाली व्याख्याकारों ने व्याख्यान करके अपने पाण्डित्य को प्रतिष्ठित करने का सौभाग्य प्राप्त किया । मम्मट को किसी ने "वाग्देवतावतार" कहा तो किसी ने "व्युत्पन्नशिरोमणि" । भीमसेन दीक्षित, जिन्होंने मम्मट को "वाग्देवतावतार" कहा है, कहते हैं कि देवताओं के गुरु (बृहस्पति) भी श्रीवाग्देवतावतार की उक्तियों का निराकरण नहीं कर सकते, मनुष्य-मशकों की बात ही क्या । यहीं उन्होंने देवनाथ तर्कपंचानन की काव्यप्रकाश की टीका काव्यकौमुदी से मम्मट की प्रशंसा में लिखित इस पद्य को उद्धृत किया है—

य एष कुरुते मनो विपदि गौरवीणां गिरां
स वामन इवाम्बरे हरिणलाञ्छनं वाञ्छति ।
लिलङ्घिषति सिंहिकारमणकेसरं फेरुवत्
पतङ्ग इव पावकं नृहरिमावकं धावति ।।

अर्थात् जो व्यक्ति गुरु (मम्मट) के कथनो पर आपत्ति का विचार भी मन में लाता है वह उस बौने आदमी की भांति है जो आकाशगत चन्द्रमा को प्राप्त करना चाहता है, वह उस शृंगाल की भांति है, जो सिंह के केसर-जाल को पार करना चाहता है, वह पतङ्ग की भांति है जो अग्नि की ओर दौड़ता है और वह भेड़-समूह की भांति है जो सिंह पर (आक्रमण के उद्देश्य से) चल पड़ता है ।

द्वितीय अध्याय

मम्मट के पूर्ववर्ती और परवर्ती आलङ्कारिक

हम आज जिस काव्य सम्बन्धी शास्त्रीय विवेचन को काव्यशास्त्र, साहित्य-शास्त्र या अलङ्कार शास्त्र आदि नामों से जानते हैं उसका प्राचीन नाम "क्रियाकल्प" था। वात्स्यायन के "कामसूत्र" और "ललितविस्तर" नामक बौद्ध ग्रन्थ में निर्दिष्ट 64 कलाओ में से एक कला के रूप में "क्रियाकल्प" का निर्देश मिलता है। सम्भव है, "क्रियाकल्प" का अर्थ "काव्यकरणविधि" (अर्थात् काव्यालङ्कार) किया है। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के उत्तरकाणड में, जहाँ लव-कुश के द्वारा राम की सभा मे गान का प्रसङ्ग है वहा सभा में उपस्थित अनेक विशेषज्ञों मे "काव्यविद् " और "क्रियाकल्पविद्" का भी उल्लेख मिलता है (अध्याय 94, श्लोक 4-10)।

राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में तो इस शास्त्र के उद्भव को लेकर एक पौराणिक आख्यायिका ही गढ ली है। वैसे इस शास्त्र का बीज वेदों मे उपलब्ध हो जाता है। वेद के अङ्गभूत "निरुक्त" में "उपमा" का विवेचन ही मिल जाता है। पाणिनीय व्याकरण में भी "उपमान" आदि शब्दों के प्रयोग मिलते हैं तथा किसी "नटसूत्र' का उल्लेख मिलता है, जो भरत के नाट्यशास्त्र का पूर्ववर्ती ग्रन्थ था। भरत के नाट्यशास्त्र में, काव्यशास्त्र से सम्बद्ध उपमा आदि अलंकारों तथा रसों का उल्लेख तो मिलता ही है, किन्तु स्वतन्त्र रूप से काव्यशास्त्र पर विचार करने वाले भामह और दण्डी है जिनके ग्रन्थ हैं—काव्यालङ्कार और काव्यादर्श। आगे चलकर "काव्यालङ्कार"

के रूप में यह शास्त्र अधिक प्रसिद्ध हुआ और काव्यविवेचनापरक शास्त्र के आचार्य "आलङ्कारिक" कहलाने लगे । आचार्य वामन ने "अलङ्कार" को "सौन्दर्य" कहा है । इससे 'अलङ्कार' की काव्य में सर्वाधिक प्रतिष्ठा का सङ्केत मिलता है । इसी आधार पर प्राचीन आचार्यो ने काव्यशास्त्र को काव्यालङ्कार या आलङ्कारशास्त्र की संज्ञा प्रदान की । रस, जिसे आगे चल कर काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठा मिली, आरम्भ में अलङ्कारों के अन्तर्गत ही विचार का विषय रहा ।

बाद में अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में "साहित्य" शब्द जुड़ा, जिसका आधार भामह का "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" यह कथन माना जाता है । इसका प्रयोग आनन्दवर्धन और कुन्तक आदि ने किया है । मम्मट से पूर्व लगभग एक सहस्र वर्षों से अलङ्कारशास्त्र के इतिहास मे अनेक आचार्य हुए, जिन्होंने अपने महनीय ग्रन्थों का निर्माण किया । इसी बीच इस शास्त्र में इन छः सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ—रससम्प्रदाय, अलङ्कारसम्प्रदाय, रीतिसम्प्रदाय, वक्रोक्तिसम्प्रदाय, ध्वनिसम्प्रदाय और औचित्यसम्प्रदाय ।

भरतमुनि और रससम्प्रदाय —

रस-सम्बन्धी विचार की शुरूआत भरत मुनि से पूर्व, राजशेखर के अनुसार नन्दिकेश्वर से हो चुकी थी, तथापि भरत मुनि को ही उसके प्रवर्तक होने का विशेष श्रेय दिया जाता है । भरत मुनि का समय अनिर्णीत है । तब भी ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व तथा प्रथम शताब्दी ई. के बीच इसे रखा जा सकता है । नाट्यशास्त्र एक 'आकर' ग्रन्थ है, जिसमें विविध कलाओं का विवेचन किया गया है । इसमें 36 अध्याय हैं । निर्णयसागर के संस्करण में इसके 37 अध्याय है, किन्तु अभिनवगुप्त इसके 36 अध्यायो की चर्चा करते हैं ।आचार्य अभिनवगुप्त की नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती टीका उपलब्ध है । दुर्भाग्य है कि परिशुद्ध मूल पाण्डुलिपि के न प्राप्त होने के कारण अभिनवभारती का सम्पादन त्रुटिपूर्ण बना हुआ है । अभिनवगुप्त के पूर्व नाट्यशास्त्र पर अनेक टीकाकारों ने व्याख्याएं

लिखीं, किन्तु वे व्याख्याएं लुप्त हो चुकी हैं । कुछ व्याख्याकारों के नाम तथा सिद्धान्तों का उल्लेख अभिनवगुप्त और मम्मट दोनों ने किया है । इसके अतिरिक्त भी कुछ टीकाकार हुए जिनके संकेत अभिनवभारती में उपलब्ध हैं । अभिनवगुप्त के अतिरिक्त जिन टीकाकारों का उल्लेख अन्य आधारों पर प्राप्त हैं वे है—भट्ट उद्भट, भट्टलोल्लट, भट्टशंकुक, भट्टनायक, कीर्तिधर, राहुल,भट्ट-यन्त्र, हर्षवार्तिक (सम्भव है किन्ही हर्ष ने वार्तिक की रचना की हो) और मातृगुप्त । इनमें से केवल अभिवनगुप्त की ही टीका अब तक उपलब्ध है ।

यद्यपि भरत के बाद और भामह से पूर्व समय का एक लम्बा अन्तराल आता है जब किसी आलङ्कारिक आचार्य ने कोई रचना नहीं की अथवा ऐसी कोई रचना उपलब्ध नहीं है, फिर भी भामह आदि के ग्रन्थों में किन्ही मेधावी या मेधाविरुद्र का उल्लेख मिलता है, जो सम्भवतः अलङ्कार शास्त्र के एक आचार्य थे । मम्मट ने अपनी रचना में उन्हें उद्धृत नहीं किया है ।

भामह और अलङ्कारसम्प्रदाय —

भामह को अलङ्कारशास्त्र का प्रथम आचार्य और अलङ्कारशास्त्र का प्रवर्तक भी माना जाता है । इनकी रचना "काव्यालङ्कार" उपलब्ध है । इनका समय भी विवाद का विषय बना हुआ है । कुछ विद्वान् इन्हें ईसा की छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उत्पन्न मानते है, क्योकि बौद्ध आचार्य दिङ्नाग (500 ई. के लगभग) के "प्रत्यक्ष कल्पनापोढं" इस प्रत्यक्ष लक्षण को भामह ने पंचम परिच्छेद में उद्धृत किया है । धर्मकीर्ति (620 ई.) ने दिङ् नाग के प्रत्यक्ष लक्षण में "अभ्रान्तं" पद जोड़ा है, किन्तु भामह में यह संशोधन प्राप्त नहीं है । अतः उनका समय दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के बीच, अर्थात् 500 ई. से 620 ई. के बीच माना गया है ।

"काव्यादर्श" के रचयिता दण्डी और भामह के अनेक वक्तव्यों में समानता देखकर कुछ विद्वान् दण्डी को भामह से पूर्ववर्ती सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, किन्तु अधिकांश विद्वानो के मतानुसार भामह

दण्डी के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं । भामह के पिता का नाम "रक्रिलगोमिन्" था तथा ये कश्मीर के निवासी माने जाते हैं । कुछ लोग "काव्यालङ्कार" के मङ्गलाचरण श्लोक में "सार्वसर्वज्ञ" की वन्दना के आधार पर उन्हें "बौद्ध" मानने की चेष्टा करते हैं, किन्तु काव्यालंकार में अनेक स्थलों पर भामह का वैदिक धर्म के प्रति आदर सूचित होता है, अतः "सार्वसर्वज्ञ" को बुद्ध की वन्दना न मान कर शिव की वन्दना मानना उचित लगता है । काव्यालङ्कार के अतिरिक्त वररुचिकृत प्राकृतप्रकाश पर मनोरमा नामक वृत्ति और कोई छन्दःशास्त्र का ग्रन्थ इनकी रचनाएं मानी जाती हैं, जो उपलब्ध नहीं हैं ।

भामहालङ्कार या काव्यालङ्कार में छः परिच्छेद हे तथा लगभग 400 श्लोक हैं । प्रथम परिच्छेद में काव्य के प्रयोजन, सत्कवि की प्रशंसा, प्रतिभा से काव्य की उत्पत्ति, काव्यनिर्माण के लिए अपेक्षित उपाय, शब्दालङ्कारवादी और अर्थालिङ्कारवादी के मत तथा अपने विचार सहित शब्द-अर्थ रूप काव्य के गद्य और पद्य रूप दो तथा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश रूप तीन भेद, पुनः इतिहास, कल्पित आदि चार भेद तथा महाकाव्य, अभिनेयार्थ, आख्यायिका, कथा और अनिबद्ध इस प्रकार पांच भेद करके इनके स्वरूप भी बताये हैं फिर, गौड और वैदर्भ भेदों की चर्चा करके उन्हें अमान्य ठहराते हैं और उनका विशेष रूप में ग्रहण भी बताते हैं । भामह के अनुसार वाणी की चारुता उसमें वक्रता से उत्पन्न होती है, और वही (वक्रता) उसका अलंकार है । इसके बाद नेयार्थ आदि दस काव्य-दोषों की चर्चा करते हैं । उनका कहना है कि रमणी के नेत्र के अंजन की भांति आश्रय के सौन्दर्य से काव्य-दोष भी शोभा धारण कर लेते हैं । और, परिच्छेद के अन्त में कहते हैं कि जिस प्रकार माली फूलों का चयन करके माला बनाता है उसी प्रकार काव्य में भी सावधान होकर योजना करनी चाहिए ।

द्वितीय परिच्छेद में माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों की चर्चा के पश्चात् अनुप्रास और यमक तथा यमक के भेद, प्रहेलिका (यमक का ही एक भेद), रूपक, दीपक, उपमा के भेदों का निर्देश

किया है । प्रतिवस्तूपमा भी उपमा के भेद के रूप में निर्दिष्ट हुई है । उपमा के तीन भेद—निन्दा, प्रशंसा और आचिख्यासा तथा मालोपमा आदि को श्रेष्ठ नहीं माना है । सात उपमा दोष बताये हैं और उपमा के भेद के रूप में ही, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति और अतिशयोक्ति अलंकारों का वर्णन किया है । अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति कह कर यह कहा है कि उसमे कवियों को यत्न करना चाहिए, क्योंकि वक्रोक्ति के बिना कौन अलङ्कार है; अर्थात् वक्रोक्ति ही सभी अलंकारों के मूल में विद्यमान रहती है । तब हेतु, सूक्ष्म और लेश के अलङ्कारत्व का खण्डन करते हैं । मेधावी (एक आचार्य) के मत से "संख्यान" रूप यथासंख्य तथा उप्रेक्षा अलंकारों की चर्चा करते हैं और स्वभावोक्ति का किन्हीं के मतानुसार अलङ्कार के रूप में निर्देश करते हैं ।

तृतीय परिच्छेद में प्रेयस्, 'उर्जस्वि' आदि 23 अलंकारों का विवेचन करते हैं । आशीः को भी अलंकार के रूप में किन्हीं के मतानुसार निर्दिष्ट किया है ।

चतुर्थ परिच्छेद में अनेक काव्यदोषों का निरूपण किया है । यही शंका तथा समाधानपूर्वक वाक्य और पद के लक्षण बताये हैं । साथ ही दोषो के परिहार का भी निर्देश करते है । दोषों का ज्ञान भी दोष के निरूपण का उद्देश्य है न कि दोष दिखाने के लिए उन्हें बताया गया है, इस बात का भी निर्देश करके परिच्छेद समाप्त करते हैं ।

पंचम परिच्छेद में प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त से ही तीन दोषों की बात करते हैं । शास्त्र दुर्बोध होता है अतः उससे अल्पबुद्धि लोग डरते हैं इसलिए उनके बहलाव के लिए यह प्रयास करते हैं । काव्य-रस से मिश्रित शास्त्र का उपयोग उसी प्रकार है जैसे मधु के साथ कड़वी दवा का सेवन । काव्य का आयाम बड़ा विशाल है । और कवि का दायित्व भी बहुत अधिक है । प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों के निरूपण के पश्चात् बौद्धों के विचारों का खण्डन करते हैं । प्रतिज्ञा के छः प्रकार बताये हैं । "हेतुहीन" दोषों के लिए तीन प्रकार के हेत्वाभास बताते हैं तथा दृष्टान्तहीन दोष का स्वरूप

निर्देश करते हैं । दूषणाभास "जातियों" का उल्लेख करते हैं, फिर प्रतिज्ञाहीन दृष्टान्तहीन का विचार करते हैं तथा कविजनों को इस बात के लिए सावधान करते हैं कि वे सदोष शब्दों का परित्याग करें ।

षष्ठ परिच्छेद में व्याकरण ज्ञान की आवश्यकता बतायी गयी है । शब्द-रत्नों की तलाश में दुर्गाध व्याकरण-समुद्र का पारंगत होना चाहिए । तब शब्द के अनेक लक्षण, स्फोटवाद का खण्डन, अपने अभिमत शब्द-स्वरूप का निर्देश, बौद्धों के अपोहवाद का खण्डन, कवियों के लिए अपेक्षित शब्दों के प्रयोग आदि की चर्चा के पश्चात् अन्त में कहते हैं कि रक्रिलपुत्र भामह ने सत्कवियो के मतों का अवलोकन करके तथा अपनी बुद्धि से काव्य-लक्षण पर विचार करके ग्रन्थ की रचना की है ।

इस प्रकार भामह ने प्रथम बार काव्य को सम्पूर्ण रूप से ध्यान में रखकर उसके आलोचन का मार्ग निर्देश किया । भामह को अलङ्कारसम्प्रदाय का प्रवर्तक माना जाता है ।

दण्डी —

"काव्यादर्श" दण्डी की अलङ्कारशास्त्रीय रचना है । यदि "अवन्तिसुन्दरी कथा" को इसी दण्डी की रचना मान लिया जाय तो दण्डी का समय आठवीं शताब्दी में सिद्ध होता है, क्योंकि दण्डी ने अवन्तिसुन्दरी कथा में अपने को भारवि का प्रपौत्र बताया है तथा बाण और मयूर की प्रशंसा की है । शाङ्‌र्गधरपद्धति (श्लो. सं.174) में उद्धृत राजशेखर के एक पद्य के आधार पर दण्डी की तीन रचनाएं प्रसिद्ध हैं । काव्यादर्श और दशकुमारचरित और बाद में दण्डी के नाम से मिली तीसरी रचना "अवन्तिसुन्दरी कथा" के प्राप्त होने के पूर्व विद्वानों ने अनेक ग्रन्थों को दण्डी की तीसरी रचना के रूप में मानने की अटकलें लगायी थीं । विद्वानों में कुछ भामह और दण्डी को समकालीन मानते हैं, कुछ दण्डी को भामह के पूर्ववर्ती कहते हैं और कुछ लोग दशकुमारचरित और अवन्तिसुन्दरी कथा को काव्यादर्श के रचयिता दण्डी की रचना मानने में सन्देह भी करते

हैं । निश्चय ही, सबकी अपनी अपनी युक्तियां हैं ।

काव्यादर्श में तीन परिच्छेद हैं और कुल पद्यों की संख्या 660 है । तिरुपति से 1936 ई. में प्रकाशित संस्करण में चार परिच्छेद हैं । इसमें 663 पद्य हैं । यहां तृतीय परिच्छेद के ही दो भाग किये गये हैं ।

प्रथम पच्छिेद में शब्दों के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है । काव्य का स्वरूप "इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली" कह कर निर्दिष्ट किया है । वैदर्भ मार्ग रूप काव्य के दस गुण तथा उसके भेद, महाकाव्य, आख्यायिका और कथा की व्याख्या, वाङ्मय के चार भेद, अनुप्रास का स्वरूप और उदाहरण दिये, तथा नैसर्गिकी प्रतिभा निर्मल "श्रुत" और अमन्द अभियोग को काव्य के निर्माण के हेतु के रूप में निर्देश किया और श्लेष आदि दस गुणों की चर्चा की । द्वितीय परिच्छेद में अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिये । तृतीय में यमक अलंकार का विस्तृत विवेचन, गोमूत्रिका आदि चित्रबन्धों 16 प्रकार की प्रहेलिकाओं और दस प्रकार के दोषों का निरूपण किया है ।

भट्ट उद्भट –

इनका "काव्यालङ्कारसारसंग्रह" भामह और दण्डी की रचनाओं के बाद एक महत्त्वपूर्ण अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ माना जाता है । इनके और दो ग्रन्थ "भामहविवरण" और "कुमारसम्भव" थे जो अब तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं । "भामहविवरण" भामह की रचना "काव्यालङ्कार" की व्याख्या के रूप में लिखा गया था । "कुमारसम्भव" के उदाहरण "काव्यालंकारसारसंग्रह" में उद्धृत हैं । सम्भवतः भट्टोद्भट ने नाट्यशास्त्र पर भी कोई टीका लिखी थी ।

भट्टोद्भट कश्मीरी थे । कल्हण की "राजतरङ्गिणी" (4-495) के अनुसार ये कश्मीर के राजा जयापीड (शासनकाल 779 ई. से 813 ई. तक) के यहां सभापति थे । अतः इनका समय आठवीं शताब्दी का अन्त और नवीं का आरम्भ सिद्ध होता है ।

"काव्यालङ्कारसारसंग्रह" 5 वर्गों में विभक्त है तथा इसमें कुल

79 कारिकाएं हैं । इनमें 41 अलङ्कारों के लक्षण आदि हैं । कुछ अलङ्कार जैसे पुनरुक्तवदाभास, काव्यलिङ्ग, छेकानुप्रास, दृष्टान्त और सङ्कर भट्ट उद्भट द्वारा स्थापित हैं, क्योंकि इनका निर्देश भामह और दण्डी के ग्रन्थों में नहीं मिलता । लेश, सूक्ष्म और हेतु— इन तीन अलंकारों को भामह नहीं मानते, किन्तु दण्डी मानते हैं । भट्टोद्भट ने भामह को मान्यता देते हुए इन अलंकारों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा है । साथ ही, उन्होंने भामह और दण्डी के ग्रन्थों में अस्पष्ट रह गये रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित और श्लिष्ट इन पांच अलंकारों को स्पष्ट किया है ।

"काव्यालङ्कारसारसंग्रह" पर दो टीकाएं लिखी गयीं । प्रतीहारेन्दुराज ने (दशम शताब्दी का प्रारम्भ), जो "अभिधावृत्तिमातृका" के लेखक मुकुलभट्ट के शिष्य थे, "लघुवत्ति" नाम की टीका लिखी । दूसरी टीका "विवृति" प्रकाशित है, जिसके सम्पादक के अनुसार कश्मीर के राजानक तिलक उसके लेखक प्रतीत होते हैं । उद्भटविवेक नाम से राजानक तिलक ने कोई टीका लिखी थी जिसका उल्लेख जयरथ ने "अलंकार-सर्वस्व" की टीका "विमर्शिनी" में किया है ।

वामन और रीतिसम्प्रदाय —

वामन का अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में विशेष महत्त्व माना जाता है, क्योंकि इन्होंने अपनी रचना "काव्यालङ्कारसूत्र" के माध्यम से "रीतिरात्मा काव्यस्य" की उद्घोषणा करके रीतिसम्प्रदाय का प्रवर्तन किया । "राजतरङ्गिणी" में कल्हण ने इन्हें जयादित्य का मन्त्री कहा है (4-497) अतः ये कश्मीरी तथा उद्भट के समकालीन थे ।

सूत्रशैली में लिखित वामन के "काव्यालङ्कारसूत्र" में पांच अधिकरण तथा बारह अध्याय हैं । प्रत्येक अधिकरण में दो-तीन अध्याय हैं । वामन ने स्वयं सूत्रों पर वृत्ति लिखी है और अनेक कवियों की रचनाओं से उदाहरण प्रस्तुत किये है । सम्पूर्ण रचना में काव्य के प्रयोजन, अधिकारी तथा काव्य की आत्मा रीति के

प्रतिपादन के पश्चात् रीति के भेद, दोष, गुण, गुण तथा अलङ्कार में भेद, अलङ्कार और शब्द-प्रयोग का विवेचन मिलता है ।

उद्भट काव्य में गुण अलङ्कार का भेद नहीं मानते थे । उनका कहना था कि लोक में शौर्यादि गुण और हारादि अलंकार क्रमशः समवाय-सम्बन्ध से आत्मा में और संयोग-संम्बन्ध से शरीर में रहते हैं, अतः उनमें भेद किया जा सकता है, किन्तु काव्य में माधुर्य आदि गुण और उपमा आदि अलंकार दोनों ही समवायसम्बन्ध से रहते हैं, अतः उनमें भेद की बात नहीं बनती । वामन ने इसका विरोध किया, और गुण तथा अलङ्कार का भेद इन शब्दों में बताया– "काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः" "तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः" वामन के परवर्ती अनेक आलङ्कारिकों ने वामन के विचारों की आलोचना की है । आलोचनाओं के होने पर भी वामन का महत्त्व कभी नहीं घटा । "सौन्दर्यमलङ्कारः" कह कर अलंकार के कारण काव्य की ग्राह्यता (उपादेयता) की बात जो वामन ने कही वह आज के नये सौन्दर्यवादी चिन्तकों के लिए बहुत कुछ प्रेरक बनी हुई है । इस प्रकार अपनी अनेक स्थापनाओं से वामन आगे के अलङ्कारशास्त्री विचारकों को सदा प्रभावित करते रहे और करते रहेंगे ।

रुद्रट –

इनकी रचना का भी नाम "काव्यालङ्कार" है । राजशेखर (लगभग 920 ई.) ने "काव्यमीमासा" में रुद्रट के विचार का उल्लेख किया है और ध्वनि-प्रक्रिया का ज्ञान, लगता है रुद्रट को नहीं था । अतः रुद्रट आनन्दवर्धन (860-89ई.) के समकालीन या कुछ पूर्ववर्ती हो सकते हैं । अतः उनका समय 825-875 के बीच होना चाहिए । इनका अपरनाम "शतानन्द" था तथा इनके पिता वामुक भट्ट थे । नाम के अनुसार ये कश्मीरी थे ।

काव्यालङ्कार 16 अध्यायों में विभक्त है और आर्याछन्द, जिसकी संख्या 734 है, में निबद्ध है । ग्रन्थ के अधिकांश में अलङ्कार वर्णित हैं, तथा रसों में "प्रेय" को भी मानने से उनकी

संख्या दस हो गयी है । नायक-नायिका भेद भी वर्णित है । अलङ्कारों का विभाजन-वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन चार आधारों पर किया गया है । यह रुद्रट का अपना विचार है । कुछ नये अलंकारों की कल्पना के साथ कुछ अलंकारों का नामकरण भी किया गया है। काव्यालङ्कार पर नमिसाधु की टीका प्रकाशित है, जो 1068 ई. में लिखी गयी है । कश्मीर के वल्लभदेव की "रूद्रटालङ्कार" टीका उपलब्ध नहीं है । आशाधर नामक जैन साधु ने (13 वीं शताब्दी का मध्यभाग) भी टीका लिखी है ।

रुद्रट का उल्लेख मम्मट ने भी किया है । रुद्रट के नाम से मिलता-जुलता एक नाम है रुद्रभट्ट । इस नाम से "शृङ्गारतिलक" नाम की एक रचना मिलती है, जो तीन परिच्छेदों में निबद्ध है । कुछ लोग दोनों रचनाओं में विषय भेद तथा विचार भेद देखकर दोनों लेखकों को भिन्न मानते हैं और अधिकांश लोग इन्हें अभिन्न समझते हैं ।

आनन्दवर्धन और ध्वनिसम्प्रदाय —

अलङ्कार शास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्धन का उदय एक विलक्षण घटना है । उन्होंने अपने ग्रन्थ "ध्वन्यालोक" के माध्यम से ध्वनि-सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया और ध्वनि को काव्य की आत्मा की प्रतिष्ठा दी । इन्हें "ध्वनिकार" कह कर स्मरण किया जाता है । राजतरङ्गिणी के अनुसार आनन्दवर्धन अवन्तिवर्मा (855-883 ई.) के साम्राज्य में थे । उन्होंने उद्भट् का उल्लेख किया है, अतः उनका समय 800 ई. के बाद होना ठीक लगता है । राजशेखर (900-925 ई.) ने आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है अतः आनन्दवर्धन की साहित्यिक गतिविधि का समय 860-89 ई. के बीच निश्चित किया जा सकता है । कुछ प्रमाणों के आधार पर उनके पिता का नाम "नोण" ज्ञात होता है । ध्वन्यालोक के अतिरिक्त इनके ग्रन्थ विषमबाणलीला, अर्जुनचरित, देवीशतक और तत्त्वालोक थे । एक "धर्मोत्तमा" टीका का भी उल्लेख स्वयं उन्होंने किया है ।

ध्वन्यालोक तीन भागों में विभक्त है—कारिका, वृत्ति तथा

उदाहरण। विद्वानों में कारिका-ग्रन्थ और वृत्तिग्रन्थ के कर्तृत्व को लेकर मतभेद है। कुछ लोग "सहृदय" नामक किसी व्यक्ति को कारिकाकार और आनन्दवर्धन को वृत्तिकार मानते हैं और कुछ लोग दोनों के कर्तृत्व की प्रतिष्ठा आनन्दवर्धन को देते हैं। इस मतभेद का मूल आधार ध्वन्यालोक पर अभिनवगुप्त की "लोचन" टीका है, जिसमें "कारिकाकार" और "वृत्तिकार" इन दो शब्दों में निर्देश किया गया है। उदाहरण कुछ स्वयं के तथा अधिकांश इतर कवियों के काव्यों से उद्‌धृत हैं। परवर्ती आचार्यों ने कारिका और वृत्ति इन दोनों ग्रन्थों को आनन्दवर्धनकृत ही माना है अतः आनन्दवर्धन को ही दोनों का रचयिता मानना उचित प्रतीत होता है।

ध्वन्यालोक में चार उद्योत हैं। प्रथम उद्योत में, ध्वनि का अभाव मानने वालों की कल्पना करके उनके पक्षों का खण्डन किया है। तब ध्वनि का अन्तर्भाव भक्ति या लक्षणा में करने वालों का युक्तिपूर्वक निरास करके ध्वनि को अनिर्वचनीय मानने वालों का खण्डन किया है। साथ ही वाच्यार्थ से प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) अर्थ की श्रेष्ठता के निर्देश के साथ ध्वनि-काव्य का लक्षण बताया गया है। द्वितीय उद्योत में ध्वनि के भेद बताये गये हैं तथा गुणों की चर्चा की गयी है। तृतीय में पदों, वाक्यों, पदांश और रचना आदि द्वारा ध्वन्यर्थ की प्रकाश्यता बता कर रसों के विरोध और अविरोध आपादन के सिद्धान्त बताये गये हैं। चतुर्थ में ध्वनि के भेदों के प्रयोग से काव्य में अनन्त चमत्कार की उत्पत्ति की बात प्रतिपादित करते हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण "ध्वन्योलोक" ध्वनि-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के लिए रचित हुआ है। निश्चय ही ध्वनिकार को अपने उद्‌देश्य प्राप्ति में पूर्ण सफलता मिली है। मम्मट ने उन्हें पूर्ण मान्यता दी है और परवर्ती काल में ध्वनि-सिद्धान्त को पूर्ण प्रतिष्ठित होने में उनका पूरा योगदान है। यही कारण है कि अनेक ध्वनि विरोधी मान्यताएं, जिनमें महिम भट्‌ट के अनुमितिवाद का भी स्थान है, परवर्ती काल में ध्वस्त हो गयीं और "ध्वनि" का ध्वज ही फहराता रहा।

ध्वन्यालोक पर अभिनवगुप्त ने "लोचन" नामक टीका लिखी। उनके पूर्व उनके ही किन्ही पूर्वज ने "चन्द्रिका" नाम से टीका लिखी

थी, जिसका वे "लोचन" में खण्डन करते हैं ।

राजशेखर —

कश्मीर से बाहर विदर्भ में उत्पन्न राजशेखर का काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अपने ढंग का विशेष योगदान है । ये कन्नौज के शासक महेन्द्रपाल और उसके पुत्र महीपाल की सभा में सभापण्डित थे । इन दोनों राजाओं ने दशम शताब्दी के आरम्भ में शासन किया था । यही समय राजशेखर का भी माना जा सकता है । यायावर वंश में उत्पन्न श्री राजशेखर ने बालरामायण, बालभारत, कर्पूरमंजरी और विद्धशालभंजिका के अतिरिक्त "काव्यमीमांसा" नामक एक विलक्षण ग्रन्थ की रचना की । इसमें अन्य अलंकार ग्रन्थों की भांति रस, गुण, अलङ्कार आदि का विवेचन नहीं है, फिर भी यह कवियों के लिए संग्राहुय है । काव्यमीमांसा अधूरी है । उसका एक अधिकरण, अट्ठारह अध्यायों का मिलता है । "कविशिक्षा" ही इस ग्रन्थ का विशेष उद्देश्य है ।

मुकुलभट्ट —

मुकुल भट्ट भट्ट कल्लट के पुत्र तथा प्रतीहारेन्दुराज के गुरु थे । इनका समय भी दशम शताब्दी का आरम्भ माना गया है, क्योंकि इनके पिता अवन्तिवर्मा (855-883 ई.) के शासनकाल में थे । मुकुल ने "अभिधावृत्तिमातृका" नामक ग्रन्थ की रचना की । इसमें 15 कारिकाएं हैं, जिनपर ग्रन्थकार की स्वयं लिखित वृत्ति है । इन्होंने शब्द के दो अर्थ माने हैं—मुख्य और लाक्षणिक । लक्षणा पर विशेष विचार किया है । काव्य-प्रकाश आदि परवर्ती ग्रन्थों का लक्षणाविचार बहुत कुछ मुकुल के लक्षणा-विचार पर आश्रित है ।

मुकुल एक प्रबल मीमांसक थे, अतः उन्होंने मीमांसकों की भांति व्यंजना को नहीं माना । साथ ही लक्षणा को भी अभिधा का ही एक भेद बताया ।

भट्ट तौत —

अभिनवगुप्त के गुरु भट्ट तौत की रचना काव्यकौतुक अब तक

प्रकाश में नहीं आयी है । अभिनवभारती और लोचन में अभिनव ने इनके रससम्बन्धी विचारों का उल्लेख किया है। ये शान्तरस को सब रसों में प्रधानतम मानते थे, क्योंकि उसका फल मोक्ष है तथा वह परमपुरुषार्थ (मोक्ष) पर आश्रित है । इनका समय 950-980 के आस-पास माना जा सकता है ।

भट्ट नायक —

भट्ट तौत के काव्यकौतुक की भांति ही भट्ट नायक का ग्रन्थ 'हृदयदर्पण" उपलब्ध नहीं है । भट्ट नायक भी भरत के रससूत्र के व्याख्याकारों में एक हैं । मम्मट ने काव्यप्रकाश में इनके मत का उल्लेख किया है । भट्ट नायक एक स्वतंत्र विचारक थे । उन्होंने परम्परा से हट कर काव्य और नाट्य में तीन व्यापार माने हैं—अभिधा, भावना और भोगीकृति अर्थात् रसचर्वणा अथवा भोग । भट्ट नायक का साधारणीकरण सिद्धान्त ही आगे अभिनवगुप्त के रससम्बन्धी सिद्धान्त का मूल आधार बना । "हृदय-दर्पण" का निर्माण भट्ट नायक ने आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त के खण्डन (ध्वंस) के उद्देश्य से किया था । इसका निर्देश अभिनवगुप्त ने "लोचन" व्याख्यान में किया है । म. म. काणे भट्ट नायक का समय 900 से 1000 ई के बीच ठहराते हैं ।

कुन्तक —

"वक्रोक्तिजीवित" के रचयिता आचार्य कुन्तक का अलङ्-कारशास्त्र के इतिहास में एक विशेष स्थान है । ये वक्रोक्तिसिद्धान्त के स्थापक एवं प्रवर्तक हैं । यद्यपि ओजस्वी ध्वनि-सिद्धान्त के सामने इनका वक्रोक्तिसिद्धान्त टिक न सका, तथापि इनके विचारों का महत्त्व आज तक स्वीकार किया जाता है । ये महिमभट्ट के पूर्ववर्ती हैं तथा इनका समय दशम शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है ।

वक्रोक्तिजीवित भी कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण, इन तीन भागों में विभक्त है । कारिका और वृत्ति के लेखक तो स्वयं कुन्तक हैं किन्तु उदाहरण के रूप में उद्धृत पद्य अनेक काव्यों के हैं ।

ग्रन्थ चार उन्मेषों में विभक्त है । सम्पूर्ण ग्रन्थ में छ प्रकार की वक्रता का विवेचन किया गया है ।

महिमभट्ट –

"व्यक्तिविवेक" के रचयिता महिमभट्ट का समय भी दशम शताब्दी के अन्त में, किन्तु कुन्तक के बाद आता है । ये आनन्दवर्धन के ध्वनिसिद्धान्त के सबसे प्रबल विरोधी हैं । इन्होंने ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव करने की प्रतिज्ञा ही कर ली है । इसी उद्देश्य से उन्होंने व्यक्तिविवेक की रचना की है । तीन विमर्शों में लिखित व्यक्तिविवेक में क्रमशः ध्वनि के अनुमान में अन्तर्भाव का प्रदर्शन, काव्यदोषों का विवेचन और ध्वनि के उदाहरणों का अनुमान में अन्तर्भाव विवेचित हैं । इनकी एक दूसरी रचना "तत्त्वोक्तिकोश" का उल्लेख इन्होंने स्वयं किया है, किन्तु वह उपलब्ध नहीं है ।

क्षेमेन्द्र और औचित्यसम्प्रदाय –

औचित्यसम्प्रदाय के संस्थापक क्षेमेन्द्र का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ "औचित्यविचारचर्चा" है । क्षेमेन्द्र ने अनन्तराज नाम के कश्मीर-नरेश (1028 से 1063 तक शासन काल) के राज्य में उक्त ग्रन्थ का निर्माण किया था । क्षेमेन्द्र की 40 रचनाओं का उल्लेख मिलता है । इनके अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हैं जैसे—भारतमंजरी, बृहत्कथामंजरी, कविकण्ठाभरण, सुवृत्ततिलक, समयमातृका, देशोपदेश, नर्ममाला, औचित्यविचारचर्चा, दशावतारचरित । ये अभिनवगुप्त के शिष्य थे । अभिनवगुप्त के शिष्यों में क्षेमराज का भी उल्लेख है । कुछ विद्वान क्षेमेन्द्र और क्षेमराज, दोनों को अभिन्न मानते हैं ।

भोजराज –

ग्यारहवीं शताब्दी के महान् शासक धारा-नरेश भोजराज ने विद्वानों के आश्रयदाता के रूप में अतिशय प्रसिद्धि तो पायी ही, साथ ही उन्होंने अनेक ग्रन्थों का निर्माण भी किया । सरस्वतीकण्ठाभरण और शृङ्गारप्रकाश उनके दो अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ हैं । सरस्वतीकण्ठाभरण पांच परिच्छेदों में विभक्त है जिनमें

दोष, गुण, पदादिगत दोष तथा गुण, शब्दालङ्कार, उभयालङ्कार, रस, भाव, पंचसन्धि तथा चतुर्धा वृत्तियों का विवेचन किया गया है ।

"शृङ्गारप्रकाश" भोजराज की विशालकाय रचना है, जो 36 प्रकाशों में विभक्त है । यह ग्रन्थ पूरा प्रकाशित नहीं हुआ है । डा. राघवन् ने इस पर अपना शोधग्रन्थ प्रस्तुत किया है । इस विशाल ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य है, शृङ्गाररस की एकमात्र प्रधानता । जिस प्रकार महाकवि भवभूति "करुणरस" के समर्थक हैं उसी प्रकार भोजराज शृङ्गार-रस के । इस प्रसंग में भोजराज का यह पद्य उल्लेखनीय है-

"शृंङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः ।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयन्तु
शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः ।।"

मम्मट के परवर्ती आलङ्कारिक —

मम्मट के पश्चात् ऐसे अनेक आलङ्कारिक हुए जिन्होंने यद्यपि किसी नये प्रस्थान या सम्प्रदाय का प्रवर्तन नहीं किया तथापि अपने महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय विचारों के कारण इस क्षेत्र में उन्हें विशेष प्रतिष्ठा मिली । कुछ ने तो धनिक और धनंजय के दशरुपक की भांति नाट्यशास्त्र पर आधारित ग्रन्थ लिखे, जैसे सागरनन्दी की रचना "नाटकलक्षणरत्नकोश", रामचन्द्र गुणचन्द्र की रचना "नाट्यदर्पण", शारदातनय की रचना "भावप्रकाशन," शिगभूपाल की रचना "रसार्णव-सुधाकर" और रूपगोस्वामी की रचना "नाटकचन्द्रिका" । किन्तु जिन्होंने भामह की परम्परा में अलंकारशास्त्र के ग्रन्थ लिखे उनमें हैं—

राजानक रुय्यक —

रुय्यक कश्मीर के निवासी थे और उन्होंने 11वीं शताब्दी के मध्यभाग में अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ "अलङ्कारसर्वस्व" की रचना की । साथ ही "काव्यप्रकाशसङ्केत" नाम से काव्यप्रकाश पर टीका

भी लिखी । इनके अन्य ग्रन्थ हैं—सहृदयलीला और व्यक्तिविवेक की टीका । इनके कुछ और ग्रन्थों का उल्लेख अलङ्कारसर्वस्व की टीका जयरथकृत "विमर्शिनी" में मिलता है—अलङ्कारमंजरी, अलङ्कारानुसारिणी, साहृत्यमीमांसा, नाटकमीमांसा और अलङ्कारवार्तिक । रूय्यक के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में तथा समुद्रबन्ध कृत उस पर टीका में उपर चर्चित अलङ्कारशास्त्र के रस आदि सम्प्रदायों के मूल की तथ्यपरक उद्भावना की गयी है, जो यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है-

"इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम् । तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यङ्ग्यमुखेन चेति त्रयः पक्षाः । आद्येऽप्यलङ्कारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम् । द्वितीये भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्त्वेन चेति द्वैविध्यम् । इति पचसु पक्षेषु आद्य उद्टादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पंचम आनन्दवर्धनेन ।"

विशिष्ट शब्दार्थ-काव्य

काव्य का वैशिष्ट्य
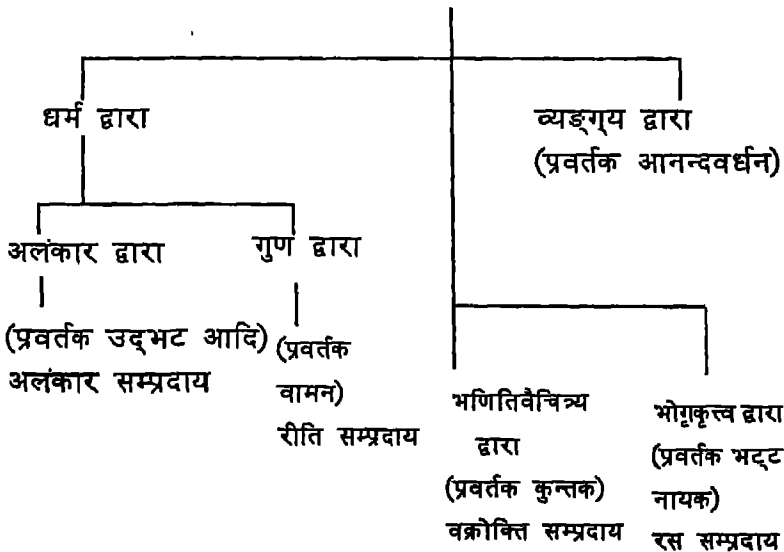
हेमचन्द्र –

यह एक प्रसिद्ध जैनाचार्य थे । इनका जन्म गुजरात के एक गांव "धुन्धुक" जि. अहमदाबाद में 1088 ई. में और देहान्त 1172 ई. में हुआ । अलङ्कारशास्त्र पर सूत्रशैली में लिखित इनका ग्रन्थ "काव्यानुशासन" है तथा उस पर "विवेक" नाम की वृत्ति भी स्वयं इन्होंने लिखी है । आठ अध्यायों में विभक्त यह ग्रन्थ एक प्रकार से संग्रह ग्रंथ है, काव्य से सम्बद्ध विषयों की परम्परागत विचारों को प्रस्तुत करता है ।

हेमचन्द्र के समान और भी अनेक जैनाचार्य हुए जिन्होंने अलंकारशास्त्र पर या तो स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे या व्याख्या प्रस्तुत की । मम्मट के पूर्ववर्तियों में रुद्रट के "काव्यालङ्कार" के टीकाकार नमिसाधु और "काव्यप्रकाश" के टीकाकार माणिक्यचन्द्र तो थे ही, बाद के भी वाग्भट, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, अरिसिंह-अमरचन्द्र, देवेश्वर आदि ने अपनी रचनाओं से काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र की परम्परा में अपना विशेष योगदान किया । इन जैन विद्वानों ने राजशेखर की "काव्यमीमांसा" की परम्परा में कवि-शिक्षा के भी ग्रन्थ लिखे ।

जयदेव –

एकादश शताब्दी में बंगाल के शासक बल्लालसेन के पुत्र लक्ष्मणसेन के शासन काल में उनके सभापण्डित थे—गोवर्धनाचार्य, शरण, उमापति, कविराज तथा जयदेव । जयदेव ने चन्द्रालोक, प्रसन्नराघव तथा गीतगोविन्द की रचना की । "गीतगोविन्द" के पद्य में उन्होने अपने समकालीन उक्त कवियों का नामोल्लेख किया है । धोयी कवि कदाचित् "कविराज" थे । जयदेव ने "चन्द्रालोक" तथा प्रसन्नराघव में अपने माता-पिता का उल्लेख किया है । अनेक विद्वान गीतगोबिन्दकार जयदेव को चन्द्रालोक तथा प्रसन्नराघव के रचयिता जयदेव से भिन्न मानते हैं । यदि कुछ विशेष तर्कों के आधार पर दोनों को एक माना जाय तो जयदेव को मिथिला के प्रसिद्ध नैयायिक पक्षधर मिश्र से भी अभिन्न माना जाना चाहिए । क्योंकि प्रसन्नराघव में जयदेव ने अपने कवि होने के साथ

तार्किक होने का भी उल्लेख किया है । यह कुछ आश्चर्य की ही बात है कि जयदेव का सम्बन्ध एक ही साथ बंगाल, मिथिला और उड़ीसा से जुड़ा हुआ है । और उनके एक ओर उत्कृष्ट भक्त होने की बात कही जाती है तो दूसरी ओर एक प्रबल तार्किक होने की बात भी प्रसिद्धि पा चुकी है ।

चन्द्रालोक सरल शैली में लिखित एक सुन्दर अलंकार ग्रन्थ है, जिसकी टीका अप्पय दीक्षित ने अलंकार प्रकरण पर कुवलयानन्द नाम से लिखी । यह दस मयूखों में विभक्त है ।

विद्याधर —

विद्याधर का अलङ्कार ग्रन्थ "एकावली" है (1280-1314 ई.) । उड़ीसा के राजा नरसिंह द्वितीय की प्रशस्ति में लिखे पद्यों को ही विद्याधर ने उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है । अपने आश्रयदाता के समसामायिक विद्याधर की रचना एकावली आठ उन्मेषों में विभक्त है तथा काव्यप्रकाश और अलङ्कारसर्वस्व की शैली में लिखित है । इस पर सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने (14 वीं शताब्दी) "तरला" नाम की टीका लिखी है ।

विद्यानाथ —

इनका अलंकार ग्रन्थ है "प्रतापरुद्रयशोभूषण । विद्याधर की भांति ही विद्यानाथ ने भी उदाहरण-पद्यों में आंध्रप्रदेश के काकतीयवश के राजा प्रतापरुद्र की स्तुति प्रस्तुत की है । विद्याधर भी अपने आश्रयदाता के समसामयिक थे । प्रतापरुद्र का समय चौदहवीं शताब्दी का आरम्भिक भाग है ।

विश्वनाथ —

चन्द्रशेखर के पुत्र विश्वनाथ कविराज ने "काव्यप्रकाशदर्पण" नाम की काव्यप्रकाश पर टीका तो लिखी ही, किन्तु इनकी सम्पूर्ण कीर्ति का आश्रय अलङ्कारग्रन्थ साहित्यदर्पण है, जिसका निर्माण ईसा की चौदहवीं शताब्दी के अन्त में हुआ । काव्यप्रकाश के ही ढंग पर दस परिच्छेदों में लिखित इस ग्रन्थ के छठे परिच्छेद में नाट्यशास्त्र सम्बन्धी विषयों का समावेश भी किया गया है । विश्वनाथ ने मम्मट

के काव्य लक्षण का आटोप के साथ खण्डन करने का प्रयास किया है । विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश से अलग हट कर, रसनिरूपण के प्रसंग मे नायक नायिका भेदों का भी निरूपण किया है । यद्यपि विश्वनाथ काव्य लक्षण में मम्मट के मत का खण्डन करके अपना काव्यलक्षण "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" प्रस्तुत करते हैं तथापि मम्मट की भांति ही ध्वनिप्रस्थान के ही समर्थक हैं । विश्वनाथ ने संस्कृत में अनेक काव्यों का निर्माण कर अपनी कारयित्री प्रतिभा का भी परिचय दिया है ।

पण्डितराज जगन्नाथ —

शाहजहाँ के समकालीन तथा मुगलदरबार में प्रतिष्ठित तैलंग ब्राह्मण पण्डितराज जगन्नाथ के पिता का नाम पेरुभट्ट और माता का नाम लक्ष्मी था । कारियित्री एवं भावयित्री प्रतिभा से सम्पन्न पण्डितराज की आलंकारिक रचना "रसगङ्गाधर" अपने विषय के मूर्धन्य ग्रन्थों में एक है । आलङ्कारिक विषयों का इतनी स्पष्टता के साथ विवेचन सम्भवतः प्रथम और अन्तिम बार हुआ है ।

पण्डितराज ने आनन्दवर्धन के ध्वनि प्रस्थान का प्रबल समर्थन किया और काव्य-लक्षण तथा काव्य हेतु के प्रसंग में मम्मट की आलोचना करके भी अधिकतर उनके प्रति सर्वत्र आस्थावान् हैं तथा उन्हें "व्युत्पन्नशिरोमणि" कहते हैं । शास्त्रीय विचार में कुवलयानन्द और चित्रमीमांसा के रचयिता अप्पय दीक्षित की इन्होंने कटु आलोचना की है । "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" के रूप में अपने काव्य-लक्षण की स्थापना प्रबल युक्तियों से करते हैं और इनकी तार्किक प्रतिभा का परिचय इनके ग्रन्थ में आद्योपान्त मिलता है । खेद का विषय है कि पण्डितराज की प्रौढ़ रचना रसगंगाधर द्वितीय आनन के उत्तरालंकार के विवेचन तक समाप्त हो जाता है । उत्तरालंकार का उद्धृत पद्य भी पूरा नहीं मिलता । सम्भव है, इस ग्रन्थ को उन्होंने पांच आननों में लिखने की योजना बनायी हो, और पूरा नहीं कर सके हों अथवा आगे का लिखित ग्रन्थांश उनके किसी "दुर्वृत्त" ईर्ष्यालु, के हाथों नष्ट कर दिया गया हो । उन्होंने

अपनी सुभाषित–सग्रह रूप रचना "भामिनीविलास" के अन्त में कुछ इसी प्रकार की शंका प्रकट की है जिस कारण उन्हें अपने पद्य-रत्नों की सुरक्षा के लिए मजूषा का निर्माण करना पड़ा था ।

रसगङ्गाधर के उदाहरण भी पण्डितराज द्वारा निर्मित हैं और इस कारण उस ग्रन्थ का आकर्षण और भी बढ़ गया है । आरम्भ में ही उन्होंने अपने ही पद्यों को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करने का कारण भी निर्देश कर दिया है–

निर्माय नूतनमुदाहृणानुरूपं काव्यं मया ऽत्र लिखितं न परस्य किंचित् ।
किं सेव्यते सुमनसां मनसा ऽ पि गन्धः कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ।।

अर्थात् मैंने उदाहरण के अनुरूप नूतन काव्य का निर्माण करके प्रस्तुत किया है, दूसरे का कुछ भी नहीं लिया है । जिस मृग में कस्तूरी को उत्पन्न करने की सामर्थ्य है वह क्या अन्य फूलों की गन्ध का मन से भी सेवन करता है?

वस्तुतः अलङ्कार शास्त्र की जो धारा आचार्य भामह से अजस्र रूप में प्रवाहित हुई थी वह "रसगंगाधर" के समुद्र में आ कर मिल गयी । पण्डितराज के पूर्व तथा बाद में कुछ अनेक प्रतिभावान् आलंकारिक अवश्य हुए, किन्तु उनमें से कुछ ही उल्लेखनीय हैं, जिनमें भानुदत्त, रूपगोस्वामी, केशवमिश्र, अप्पयदीक्षित, आशाधर भट्ट और विश्वेश्वर पण्डित हैं । भानुदत्त की रसमंजरी और रसतरंगिणी का अवश्य प्रभाव रहा किन्तु उसे एकक्षेत्रीय ही कहा जा सकता है । रूपगोस्वामी भी (भक्तिरसामृत-सिन्धु और उज्ज्वलनीलमणि) अपनी साम्प्रदायिकता की सीमा के कारण उस प्रकार की ख्याति अर्जित नहीं कर सके । केशव मिश्र का "अलंकारशेखर" का भी कोई विशेष अवदान नहीं है और पर्वतीय विद्वान् विश्वेश्वर पण्डित तो अपने ग्रन्थ (अलङ्कौरकोस्तुभ) अत्यन्त प्रौढ एवं जटिल होने के कारण वह ख्याति अर्जित न कर सके । विश्वेश्वर पण्डित ने अलंकारकौस्तुभ के अतिरिक्त अलङ्कारमुक्तावली, अलङ्कारप्रदीप, रसचन्द्रिका और कवीन्द्रकण्ठाभरण की भी रचना की ।

तृतीय अध्याय

मम्मट के काव्यसिद्धान्त

यद्यपि मम्मट ने अपने निजी काव्य-सिद्धान्त स्पष्ट नहीं किये हैं, तथापि काव्यप्रकाश के आकलन से उनके द्वारा प्राचीन आचार्यों के व्याकीर्ण काव्य-सिद्धान्तों के विषय में की गयी व्यवस्था के आधार पर हम मम्मट के काव्यसम्बन्धी सिद्धान्तों या विचारों की कल्पना कर सकते हैं। मम्मट के स्पष्ट काव्यसिद्धान्त के अभाव में उनका महत्त्व किसी प्रस्थान-प्रवर्तक आचार्य की अपेक्षा किसी प्रकार कम नहीं ठहरता। मम्मट के पक्ष में सबसे बड़ी बात जो कही जाती है वह यह है कि उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सभी मतवादों को एक सुदृढ़ भूमि दी तथा उनका समुचित मूल्याङ्कन किया और साथ ही ध्वनिसिद्धान्त को अपना समर्थन दिया।

"काव्यप्रकाश", जैसा कि इस नाम से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मम्मट अपने ग्रन्थ द्वारा उस काव्य को सबके समक्ष प्रकाश में लाना चाहते हैं जो अत्यन्त व्याकीर्ण विचारों की कुज्झटिका से आच्छन्न पड़ा हुआ था। जैसा कि मम्मट ने ग्रन्थ के अन्त में बताया है कि उन्होंने एक प्रकार से समन्वयात्मक प्रवृत्ति अपना कर ही सभी विचारों को व्यवस्थित किया है।

मम्मट का सम्पूर्ण काव्यप्रकाश उनके द्वारा निर्मित काव्य लक्षण का ही व्याख्यान रूप है, जैसा कि अन्त में उन्होंने लिखा है—इति सम्पूर्णमिदं काव्यलक्षणम्। काव्य के लक्षण के विचार से पूर्व उन्होंने अपने मंगलाचरण के पद्य में ब्रह्मा के निर्माण की अपेक्षा कवि-वाणी के निर्माण की विशिष्टता पर बल दिया है। तत्पश्चात् काव्य के प्रयोजन और हेतु पर विचार किया है।

मंगलाचरण-पद्य —

ब्रह्मा ने संसार का निर्माण किया है और काव्य-जगत् का निर्माण करने वाली कवि की वाणी या सरस्वती है । निश्चय ही ब्रह्मनिर्मित संसार से कविवाणी द्वारा निर्मित काव्य-जगत् उत्कृष्ट है —

ब्रह्मनिर्मित संसार —

1. नियति के नियमों के अधीन,
2. सुख, दुःख तथा मोह के स्वभाव वाला,
3. उपादानकारण तथा सहकारिकारण के अधीन,
4. कटु आदि छ रसों से युक्त,
5. साथ ही उनसे अरुचिकर भी ।

कविवाणी द्वारा निर्मित काव्यजगत् —

1. नियति के नियमों से रहित,
2. केवल आनन्द के स्वभाव वाला,
3. (कवि की प्रतिभा के अतिरिक्त) किसी के अधीन नहीं,
4. शृङ्गार आदि नौ रसों से सम्पन्न,
5. साथ ही उनसे सम्पूर्णतया मनोहर ।

इन विशेषताओं के निर्देश द्वारा मम्मट ने विधातृ-सृष्टि की अपेक्षा कविवाणी की सृष्टि की सर्वथा अलौकिकता स्थापित की है । प्राचीन प्रायः सभी आचार्य लोक से काव्य को अलग या ऊपर (अलौकिक या लोकोत्तर) सिद्ध करने के पक्षपाती रहे हैं । मम्मट ने उनकी ही बात अपने ढंग से, विलक्षण काव्यशैली में व्यक्त की है ।

कवि अपने निर्माण द्वारा अपने काव्य के सुननेवालों अथवा नाटकादि के दर्शकों को ऐसी मानसिक भूमि में पहुंचाने का प्रयास करते हैं जहां दृश्यमान जगत् से उनका सम्बन्ध समाप्त हो जाता है । वे उस स्थिति में एक अलौकिक रसानुभूति या आनन्द का अनुभव करते हैं । इस अलौकिक स्थिति तक पहुंचाने में जो कवि जितना ही सफल होता है उतना ही उसके कवित्व की प्रशंसा होती

है । मम्मट के केवल पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों ने ही काव्य जगत् के अलौकिकत्व का सिद्धान्त नहीं अपनाया, बल्कि परवर्ती आलङ्कारिक भी इसके पक्षपाती रहे । पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अपने काव्यलक्षण में आये रमणीय शब्द की व्याख्या में भी "लोकोत्तरत्व" की स्थापना की हैं (रमणीयता च लोकोत्तराहलादजनकज्ञान-गोचरता) । तात्पर्य यह है कि काव्य से मिलने वाला आनन्द दृश्यमान जगत् के वैषयिक सुख से सर्वथा भिन्न है । यही बात मम्मट ने आगे काव्य के प्रयोजनों का निर्देश करते हुए "सद्यःपरनिर्वृति" शब्द से कही है ।

मम्मट द्वारा प्रस्तुत मंगलाचरण का पद्य एक ओर जहाँ अपने आप मे अर्थगम्भीर है वहा विलक्षण कवित्व से परिपूर्ण भी है । इसमें व्यतिरेक अलंकार का प्रयोग मम्मट के कवित्व का भी द्योतक है । यद्यपि "काव्यप्रकाश" मे उदाहरण के पद्यों में मम्मट ने न तो अन्य आचार्यों की भांति अपना एक भी पद्य उद्धृत किया है और न ही अपनी किसी काव्य-रचना का भी संकेत किया है, तथापि मङ्गलाचरण के रूप में लिखित उनका यह एक ही पद्य उनके कवित्व पक्ष को भी पूर्ण रूप से उजागर करता है ।

काव्य के प्रयोजन —

मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्य भरत, भामह आदि ने भी काव्य के प्रयोजनों की चर्चा की है । कवि काव्य का निर्माण क्यों करे और सहृदय उसे क्यों पढ़े,इस प्रश्न के समाधान में भरत ने काव्य (नाट्य) के ये फल बताये हैं—धर्म, यश, आयु, हित, बुद्धि, लोकोपदेश और विश्रान्ति । सम्भव है, आचार्य भरत यश को कवि के लिए प्रयोजन मानते हों तथा अन्य को कवि तथा सामाजिक (सहृदय) दोनों के लिए स्वीकार करते हों । विश्रान्ति से तात्पर्य आनन्द ही भरत का सम्मत प्रयोजन रहा होगा । लोगों का यह कहना कि आनन्द रूप प्रयोजन का उल्लेख भरत ने नहीं किया है, यह बात संगत नहीं लगती । विश्रान्ति (परमविश्रान्ति) सुख या आनन्द की स्थिति ही होती है, क्योंकि "अशान्तस्य कुतः सुखम्" यह सिद्धान्त सर्वसम्मत

है । भरत के उत्तरवर्ती भामह ने कहा है कि साधु काव्य (सत्काव्य) का निर्माण (निबन्धन) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, कलाओं में निपुणता, आनन्द और यश देता है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ।।

काव्यालंकार 1/2

इस पद्य में—"निबन्धनम्" के स्थान पर कहीं कहीं "निषेवणम्" पाठ मिलता है । प्रथम पाठ के अनुसार तो भामह द्वारा उक्त सभी काव्य के प्रयोजन कवि मात्र के लिए सिद्ध होते हैं, किन्तु द्वितीय पाठ से ये कवि तथा सहृदय दोनों के लिए सिद्ध होते हैं । यदि "निबन्धनम्" पाठ को माना जाय तो यह समझना कठिन हो जाता है कि काव्य के निर्माण से कवि को विशेष रूप से कलाओं में वैचक्षण्य (निपुणता) कैसे प्राप्त होती है । धर्म आदि चतुर्वर्ग को काव्य का प्रयोजन भामह के अनुसार अन्य आचार्यों, जैसे रुद्रट, कुन्तक और विश्वनाथ आदि ने भी माना है । वस्तुतः कीर्ति कवि के लिए प्रयोजन है तथा प्रीति या आनन्द कवि और सहृदय, दोनों के अनुसार प्रयोजन माने जायें तो कवि के भाग में अर्थ (धन) और कीर्ति दोनों आते हैं । शेष दोनों के उपयोगी माने जा सकते हैं ।

आचार्य दण्डी स्पष्ट रूप से काव्यप्रयोजन के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते । आचार्य वामन दृष्ट फल और अदृष्ट फल के रूप में क्रमशः प्रीति और कीर्ति को मानते हैं ।

मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों को बड़ी स्पष्टता से निर्देश किया, जिससे पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा निर्दिष्ट प्रयोजनों का समाहार एवं उपयुक्त समन्वय भी हो जाता है । मम्मट ने छः प्रयोजन बताये— यश, अर्थ (धन) व्यवहार-ज्ञान, अमङ्मलनाश, परम आह्लाद और कान्ता-सम्मित उपदेश । मम्मट ने बड़े स्पष्ट शब्दों में अपने द्वारा निर्दिष्ट इन काव्य के प्रयोजनों को समझा दिया है । उनके अनुसार काव्य के निर्माण से कालिदास आदि को यश की प्राप्ति हुई, श्रीहर्ष आदि राजाओं से धावक आदि कवियों को धन मिला, आदित्य आदि देवताओं की स्तुति से मयूर आदि कवियों के अनर्थ (अमंगल, रोग

आदि) का निवारण हुआ और काव्य के अध्येता सहृदयों को व्यवहारों का ज्ञान और आनन्द की प्राप्ति के साथ कान्ता-जैसा उपदेश प्राप्त होता है । मम्मट की दृष्टि में काव्य का सर्व श्रेष्ठ प्रयोजन आनन्द है, क्योंकि वह रसास्वादन के ही क्षण (सद्यः) उत्पन्न होता है और साथ ही उस आनन्द की अनुभूति के काल मे अन्य सारे ज्ञान-विषय (वेद्यान्तर) विगलित अर्थात् विलीन हो जाते हैं । काव्य से सहृदय जनों को जो उपदेश प्राप्त होता है, उसे मम्मट 'कान्ता-सम्मित' उपदेश कहते हैं । उनके अनुसार उपदेश तीन प्रकार के होते हैं— प्रभु-सम्मित, सुहृत्सम्मित और कान्तासम्मित । प्रभुसम्मित उपदेश शब्द-प्रधान वेदादिशास्त्रों से प्राप्त होता है । अर्थात् वेदादि शास्त्र प्रभुओं जैसे आज्ञा देते हैं और "आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया" के अनुसार उन्हें मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है । अर्थ-प्रधान (अर्थमात्र में तात्पर्य रखने वाले) पुराणादि एवं इतिहास ग्रन्थ मित्रो जैसा उपदेश करते हैं । उन्हें मानने वाला माने अथवा न माने यह उसकी मर्जी पर निर्भर होता है, किन्तु इन दोनों के विपरीत काव्य कान्ता जैसा उपदेश करता है, क्योंकि काव्य में शब्द और अर्थ दोनों का प्राधान्य समाप्त हो जाता है और केवल रसाङ्गभूत व्यापार (व्यजना व्यापार) की प्रधानता द्वारा कर्तव्य या अकर्तव्य को अत्यन्त सरस बना उपदेश प्राप्त होता है और उसका निष्कर्ष निकलता है राम आदि की भांति प्रवृत्त होना चाहिए, न कि रावण आदि की भांति ।

काव्य से कवि को यश या धन प्राप्त होता ही हो ऐसा नहीं । साथ ही कविता से अमंगल का नाश जैसी बात भी केवल देव-स्तुतिपरक काव्य की रचना में सीमित रहने की ओर संकेत करने वाली बात है । अस्तु, मम्मट का तात्पर्य इतना ही हो सकता है कि अधिकांशतः काव्य-निर्माण से कवि को यश, धन आदि की प्राप्ति होती है तथा सहृदय को सद्यः आनन्द, व्यवहार-ज्ञान तथा उपदेश प्राप्त होते हैं ।

मम्मट के उत्तरवर्ती आलंकारिकों में हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में धन, व्यवहार-ज्ञान और अनर्थनिवारण इन काव्य-प्रयोजनों का

खण्डन किया है । उनका कहना है कि धन, आवश्यक नहीं कि काव्यनिर्माण से प्राप्त ही हो, व्यवहार-ज्ञान तो शास्त्रों से भी होता है (इसमें काव्य की विशेषता क्या है?) तथा अनर्थ का निवारण भी अन्य उपायों से सम्भव है, इसके लिए काव्य की विशेष उपयोगिता क्या है ?

काव्य का हेतु –

काव्य की उत्पत्ति किन कारणों से होती है, इस विषय पर विचार भी मम्मट के पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों ने किया है । भरत ने इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्देश तो नहीं किया किन्तु भामह की पक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे प्रतिभा के साथ लोक तथा शास्त्र के ज्ञान (व्युत्पत्ति) और काव्यज्ञ जनो की शिक्षा-अभ्यास को काव्य की उत्पत्ति के हेतु मानते हैं । उनका कहना है कि जड़ बुद्धि वाले लोग भी गुरुजनों के उपदेश से शास्त्र का अध्ययन कर सकते हैं, किन्तु काव्य तो किसी प्रतिभावान् के कभी होता है अर्थात् एक तो प्रतिभाशाली व्यक्ति ही काव्य निर्माण कर सकता है और दूसरे प्रतिभा की उत्पत्ति विरल होती है । प्रतिभाशाली को शास्त्र, लोक तथा कला इन तीनों का ज्ञान या व्युत्पत्ति और शब्द और अर्थ को ज्ञान करके तथा काव्य के जानकार लोगो की सेवापूर्वक अन्य निबन्धों का अवलोकन करके काव्य निर्माण मे प्रवृत्त होना चाहिए ।

वस्तुतः भामह के इस कथन को आधार बना कर ही आगे के आचार्यों ने इस सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त किये हैं । प्रतिभा ही शक्ति है । भट्ट तौत के अनुसार नया-नया उन्मेष (उद्भावन) करने वाली प्रज्ञा को ही प्रतिभा कहते हैं और अभिनवगुप्त ने अपूर्व वस्तु के निर्माण में समर्थ प्रज्ञा को प्रतिभा कहा है ।

भामह ने इसी प्रकरण में "काव्याङ्ग" की बात कही है, उनके अनुसार "ऐसा कोई भी शब्द, अर्थ, न्याय और कला नही है जो "काव्य के अङ्ग" के रूप में गृहीत न हो सके । वामन ने "काव्याङ्ग" के तीन प्रकार बताये हैं—लोक, विद्या और प्रकीर्ण । आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार मम्मट ने लोक तथा विद्या को निपुणता के अन्तर्गत कर

लिया है और प्रकीर्ण में से "शक्ति" (प्रतिभान) को अलग कर दिया है । वृद्ध-सेवा का अभ्यास में अन्तर्भाव करके तीन ही मुख्य कारण माने हैं । आचार्य दण्डी ने भी प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के समुदाय को काव्य-हेतु माना है, फिर बाद मे यह भी कहते हैं कि प्रतिभा के न रहने पर भी श्रुत (व्युत्पत्ति) और यत्न (अभ्यास) से भी काव्य का निर्माण होता है । राजशेखर ने प्रतिभा या शक्ति को मात्र काव्य का हेतु माना है । इस प्रकार हम देखते हैं कि भामह आदि कुछ आलकारिक जहां काव्य हेतु के रूप मे प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास-इन तीनों के समुदाय को मानते हैं, वहां राजशेखर आदि ने केवल प्रतिभा को ही उसका कारण माना है । दण्डी तो प्रतिभा के बिना केवल व्युत्पत्ति और अभ्यास से भी काव्य की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं ।

मम्मट ने शक्ति, निपुणता और अभ्यास-इन तीनों को सम्मिलित रूप से (न कि अलग-अलग) काव्य का हेतु माना है । शक्ति को वे कवित्व का बीज रूप सस्कार-विशेष मानते हैं । पूर्ववर्ती आचार्यों ने जिसे "प्रतिभा" कहा है, मम्मट उसे शक्ति कहते है । उनके अनुसार शक्ति के बिना काव्य का निर्माण नहीं होता और वह (काव्य) यदि निर्मित भी हो जाय तो उपहास का पात्र होता है । निपुणता या व्युत्पत्ति लोक व्यवहार, छन्द, व्याकरण आदि शास्त्रों, महाकवियों के काव्यों तथा इतिहास आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न होती है तथा काव्य के निर्माण तथा विचार मे समर्थ लोगो के उपदेश से निर्माण और योजना (जोड़-तोड़) की बार-बार प्रवृत्ति अभ्यास है । इस प्रकार ये तीनों समष्टि रूप से मिल कर काव्य के निर्माण में हेतु का काम करते हैं ।

मम्मट के परवर्तियों में से पण्डितराज ने इस प्रसङ्ग में नये ढंग से अपने विचार व्यक्त किये हैं । उनका कहना है कि कवि में रहने वाली केवल प्रतिभा ही काव्य का हेतु है । उनके अनुसार काव्य की रचना के अनुकूल शब्द-अर्थ की उपस्थिति ही प्रतिभा है । पण्डितराज इस प्रतिभा की उत्पत्ति के दो कारण मानते हैं,

एक तो अदृष्ट, जो कभी किसी देवता या महापुरुष के प्रसाद (आशीर्वाद) से होता है और दूसरा है—विलक्षण व्युत्पत्ति और काव्य निर्माण करने का अभ्यास ।

ऐसा लगता है कि पण्डितराज ने मात्र प्राचीन मत के खण्डन के उद्‌देश्य से ऐसी कल्पना कर ली है । वस्तुतः मम्मट का विचार काव्य के हेतु के रूप में पूर्वाचार्यों द्वारा सुचिन्तित मार्ग पर है । मम्मट ने पूर्वाचार्यों के व्याकीर्ण मतों का यहाँ अत्यन्त समुचित समायोजन करके बड़े स्पष्ट शब्दों मे अपना विचार व्यक्त कर दिया है । कहना न होगा कि प्रतिभा मात्र से उत्पन्न काव्य केवल खान से निकले उस मणि के समान है जिस पर घर्षण के अभाव में चमक नहीं आई है । व्युत्पत्ति का काम उस पर चमक लाना होता है और अभ्यास से उसकी चमक निरन्तर कायम रहती है । रत्न यदि चमकदार भी हो और उसे बहुत समय तक रख दिया जाय तब उसकी चमक कायम नहीं रह पाती, कुछ उसी प्रकार का काम अभ्यास करता है । इस प्रकार मम्मट का मत विशेष रूप से ग्राह्य प्रतीत होता है ।

काव्यलक्षण —

काव्य के लक्षण या स्वरूप को लेकर मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों के अलग-अलग विचार मिलते है । कुछ तो केवल शब्द को काव्य मानते है, कुछ केवल अर्थ को, किन्तु कुछ आचार्य शब्द-अर्थ दोनो को समान रूप से काव्य मानते हैं । आचार्य भामह ने शब्द मात्र में चमत्कार और अर्थमात्र में चमत्कार मानने वाले दोनो प्रकार के विचारको को न मानकर शब्द और अर्थ की वक्रता से वाणी में चमत्कार आता है अतः वक्रतायुक्त शब्द-अर्थ को काव्य माना है (वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः) । किन्तु आचार्य दण्डी इष्ट अर्थात् हृदय को आह्लादित करने वाले अर्थ से युक्त (इष्टार्थव्यवच्छिन्ना) पदावली या पदसमूह को काव्य कहते हैं । भामह और दण्डी मुख्यतः अलङ्कारवादी हैं, अतः शब्द और अर्थ के अलङ्कार में ही उन्हें काव्यत्व की सीमा मान्य है । वामन काव्य

की आत्मा की चर्चा करते हैं और उनके अनुसार काव्य की अलंकार से ग्रह्‌यता सिद्ध होती है । काव्य के वे स्वरूपाधायक नहीं हैं । फिर भी वामन ने गुण और अलङ्कार से सस्कृत शब्द-अर्थ को काव्य के रूप में स्वीकार किया है । (काव्य-शब्दोऽयं गुणालङ्कार-संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते) । ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धन भी वामन की भांति काव्य की आत्मा के अनुसन्धानकर्ता है । उन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना है । भामह आदि की भांति वे शब्द-अर्थ को काव्य का शरीर मानते है । एक स्थान पर आनन्दवर्धन ने सहृदय के हृदय को आह्‌लादित करने वाले शब्द-अर्थ से युक्त को काव्य माना है और अन्यत्र कहते है कि विशिष्ट अर्थ का ज्ञान कराने वाला शब्द-सन्दर्भ काव्य-विशेष है । कुन्तक अपने वक्रोक्तिजीवित में सहृदयजनों को आनन्दित करने वाले वक्र-कविव्यापार से युक्त बन्ध (रचना) मे व्यवस्थित सहित शब्द-अर्थ को काव्य मानते हैं । इस प्रकार उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विभिन्न काव्य लक्षण सम्बन्धी विचारो को अपने काव्य लक्षण में समन्वित करने का प्रयास किया है । क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य का जीवित (आत्मा) माना है ।

इस प्रकार और भी अनेक आचार्यों ने अपने-अपने अनुसार काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है । मम्मट ने अपमे ढंग से काव्य का लक्षण इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—

तत् (काव्य) अदोषौ शब्दार्थौ सगुणौ, अनलङ्कृती पुनः क्वापि । इसमे "अनलङ्कृती पुनः क्वापि" को स्वय मम्मट ने वृत्ति में स्पष्ट करते हुए कहा है—"सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्-कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः ।"

मम्मट शब्द-अर्थ, दोनों को काव्य मानते हैं, न कि केवल शब्द को, अथवा केवल अर्थ को । उनके अनुसार शब्द-अर्थ काव्य है । शब्द-अर्थ को विशेषित करते हुए उन्होने "अदोषौ", "सगुणौ" तथा "अनलङ्कृती पुनः क्वापि" कहा है । अर्थात् वे शब्द-अर्थ दोषरहित, गुणसहित और अलकारयुक्त होने चाहिए, यदि रस की प्रतीति हो रही हो तो स्पष्ट अलंकार के अभाव में भी कोई हानि नहीं है,

काम चल सकता है । उन्होंने अपने वक्तव्य की पुष्टि के लिए "यः कौमारहरः" इत्यादि पद्य को उद्धृत किया, जिसमें रस की प्रधान रूप से प्रतीति हो रही है और कोई अलकार स्पष्ट नही है ।

मम्मट के इस काव्य लक्षण का "साहित्यदर्पण" के रचयिता विश्वनाथ अक्षरशः खण्डन करते हैं । उनके अनुसार मम्मट द्वारा उदाहृत पद्य "यः कोमारहरः " में विभावना और विशेषोक्ति अलंकारों की स्पष्ट प्रतीति होती है । यदि दोषरहित को काव्य मानते हैं तो ऐसा कोई भी काव्य नहीं होगा जो दोषरहित हो जैसा कि "न्यक्कारः" पद्य में ही "विधेयाविमर्श" नाम का दोष है । इस प्रकार ऐसा कोई काव्य ही नहीं मिलेगा, जिसे मम्मट के अनुसार काव्य कहा जाय, यदि मिलेगा भी कोई तो एक-दो । इसी बात को विश्वनाथ "एवं काव्य प्रविरलविषय निर्विषयं वा स्यात्" कह कर व्यक्त करते हैं । यदि एक ही काव्य में किसी अंश में दोष मान कर उसे अकाव्य कहें और किसी अंश में ध्वनि मानकर उसे उत्तम काव्य कहे तो-इन दोनो (अकाव्यत्वप्रयोजक तथा काव्यत्वप्रयोजक) अशो की परस्पर खींचातानी में न वह काव्य ही हो पायेगा और न अकाव्य ही । "सगुणौ" का खण्डन विश्वनाथ यह कह कर करते है कि गुण (माधुर्यादि) तो रस के धर्म हैं, अतः रस में रहते है, शब्द अर्थ मे नहीं । इसी प्रकार मम्मट के उक्त काव्य लक्षण का खण्डन रसगगाधर में पण्डितराज जगन्नाथ ने भी किया है । वे शब्द-अर्थ दोनो को काव्य मानने के पक्ष में नहीं है । पण्डितराज केवल शब्द को काव्य मानते हैं, जो रमणीय अर्थ का प्रतिपादक होता है । (रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्) शब्द-अर्थ को मिलितरूप से काव्य मानने में उन्होंने जो तर्क दिया है उसकी आलोचना (खण्डनात्मक) उनके टीकाकार नागेश भट्ट ने की है । यहां हम विस्तार के भय से मम्मट की ओर से विश्वनाथ (साहित्यदर्पणकार) तथा पण्डितराज के विचारों की आलोचना नही कर रहे हैं । जिज्ञासु उनके उन मूल ग्रन्थों तथा उनके टीकाग्रन्थों का अनुसंधान कर लें । वस्तुतः मम्मट इतने सामान्य ग्रन्थकार नहीं थे कि उनके द्वारा निर्णीत एवं स्थापित किसी विचार का आसानी से खण्डन किया जा

सकता है । मम्मट को कुछ लोग "वाग्देवतावतार" तो मानते ही थे, स्वयं पण्डितराज ने अपने ग्रन्थ मे उनके विचारों की प्रामाणिकता स्वीकार की है और उन्हें "व्युत्पन्नशिरोमणि" कहा है ।

किस आचार्य का काव्यलक्षण कहां तक पूर्ण है, यह कहना कठिन है, फिर भी इतना स्पष्ट लगता है कि मम्मट ने काव्य को लक्षित करने में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का समाहार तो किया ही है, साथ ही सक्षेपण भी किया है । एक तो उन्होने शब्द-अर्थ दोनों को काव्य माना है, जिससे दोनो को काव्य मे समान रूप से महत्त्व रहता है, यह सिद्धान्ततः स्वीकार किया है । दूसरे, "अदोषौ" कह कर, "नञ्समास" द्वारा रस के व्याघात न पहुचने की स्थिति में यत्किचित् दोष की स्थिति मे भी काव्यत्व की क्षति न होने का सकेत किया है । तीसरे, "सगुणौ" द्वारा निर्देश किया है कि गुण चूंकि रस के धर्म है अतः रस की सत्ता काव्य में व्यड्ग्यरूप में अनिवार्य है । चौथी बात यह है कि अलकारों की अनिवार्यता उन्होंने नहीं स्वीकार की है, जब कि उनके पूर्ववर्ती अनेक आचार्य अलकारों की अनिवार्यता के पक्षपाती थे । वस्तुतः चमत्कार जिन दो माध्यमों से होता है वे हैं रस और अलंकार । मम्मट के उक्त काव्यलक्षण से व्यक्त होता है कि वे अलंकारजन्य चमत्कार की अपेक्षा रसजन्य चमत्कार को अधिक उत्कृष्ट मानते है और काव्य की उत्तमता के लिए उसी की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं ।

मम्मट के परवर्ती काल के आचार्य विश्वनाथ, पण्डितराज आदि ने नैयायिकों के प्रभाव से अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भव दोषों के अभाव की बात ध्यान में रखकर काव्य का लक्षण बनाना आरम्भ कर दिया । प्राचीन आचार्यों ने काव्य-लक्षण मे अपने काव्य लक्षण द्वारा मात्र काव्य को संकेतित करने की दृष्टि रखी है । उनकी यह दृष्टि इस कारण भी सही लगती है कि काव्य या कविता ब्रह्मनिर्मित पदार्थों की भाँति किसी एक सूत्र में बांधी नहीं जा सकती, उसका स्वरूप विभिन्न विचारको के अनुसार अलग-अलग हो सकता है । यही उसकी लोकोत्तरता का रहस्य भी है ।

मम्मट सिद्धान्ततः ध्वनिकार आनन्दवर्धन के काव्य-सिद्धान्त से

अधिक प्रभावित थे, अतः उन्होंने काव्य में रस की सत्ता को मान्यता दी है । साथ ही अन्य व्यङ्ग्य (वस्तु और अलंकार) भी आपेक्षिक दृष्टि से महत्त्व रखते हैं । उसी आधार पर काव्य का उन्होने विभाजन भी प्रस्तुत किया ।

काव्य के भेद —

मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों में भरत ने काव्य का विभाजन दृश्य काव्य के आधार पर किया, किन्तु भामह आदि ने श्रव्य काव्य को ध्यान में रखा । भामह ने काव्य के विभाजन के चार आधार माने हैं । 1. छन्द के होने तथा न होने के आधार पर, जैसे गद्य और पद्य ये दो भेद, 2 भाषा के आधार पर, सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश ये तीन भेद, 3. विषय के आधार पर, ख्यातवृत्त, कल्पित, कलाश्रित, शास्त्राश्रित ये चार भेद और 4. स्वरूप विधान के आधार पर, महाकाव्य, रूपक, आख्यायिका, कथा और मुक्तक ये पांच भेद । दण्डी ने गद्य, पद्य और मिश्र रूप मे काव्य का विभाजन किया । वामन ने गद्य और पद्य रूप मे विभाजित किया है । रुद्रट भाषा के आधार पर काव्य को छः भेदों में विभाजित करते है—प्राकृत, सस्कृत, मागध, पिशाच, सूरसेनी और अपभ्रश ।

वस्तुतः ये भी काव्य-भेद काव्य के बहिरङ्ग पक्ष को ध्यान में रख कर किये गये है । अतः इनका उतना महत्त्व नहीं । आनन्दवर्धन ने प्रथम बार काव्य के अन्तरङ्ग पक्ष को ध्यान में रखकर विभाजन प्रस्तुत किया है । उनके अनुसार काव्य के तीन भेद हैं—ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्र । इस विभाजन का आधार है व्यङ्ग्य । जब व्यङ्ग्य से उत्पन्न चमत्कार वाक्य से अधिक होगा तब काव्य ध्वनि काव्य होगा । और जब वाच्य से समान या अपकृष्ट होगा तब गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होगा और व्यंग्य के चमत्कार की अनुभूति न होने की स्थिति में चित्रकाव्य होगा । मम्मट ने काव्य के भेद के इस आधार को स्वीकार किया और ध्वनि काव्य को उत्तम, गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य को मध्यम तथा चित्र काव्य को अवर या अधम की संज्ञा प्रदान की ।

ध्वनि शब्द वस्तुतः व्याकरणशास्त्र के विद्वानो की देन है । प्राचीन वैयाकरणो ने स्फोट रूप व्यङ्ग्य के व्यंजन में समर्थ शब्द को "ध्वनि" की संज्ञा दी थी, किन्तु, काव्यशास्त्र में ध्वनन या व्यंजन की क्षमता वाले अर्थ में भी स्वीकार कर शब्द-अर्थ दोनों को ध्वनि की संज्ञा से अभिहित किया गया है ।

मम्मट ने ध्वनि काव्य का लक्षण करते हुए कहा है—वाच्य से व्यंग्य के अतिशय (प्रधान) होने के कारण ध्वनि उत्तम काव्य है । यहा व्यङ्ग्य से उत्पन्न चमत्कार इतना अधिक होता है कि उससे वाच्य दब जाता है । और जब काव्य से व्यग्य अर्थ का चमत्कार अधिक (अतिशय) नही होता, तब गुणीभूतव्यग्य या मध्यम काव्य होता है, किन्तु जब व्यङ्ग्य अर्थ स्फुट रूप से प्रतीयमान नहीं होता तब या तो शब्द-चित्र होता है अथवा अर्थचित्र । इसे मम्मट अवर (अधम) काव्य की संज्ञा से अभिहित करते हैं । इस प्रकार मम्मट ने काव्य-भेद की कल्पना मे केवल व्यङ्ग्य अर्थ का आधार स्वीकार किया, जो पूर्ववर्ती आचार्यो के द्वारा निर्दिष्ट आधारो की अपेक्षा अधिकतर अन्तरङ्ग है । मम्मट ने इस अंश मे एकमात्र आनन्दवर्धन का अनुगमन किया है । पण्डितराज ने भी काव्य-भेद का यही आधार माना है किन्तु वे काव्य के चार भेद मानते है—उत्तोमत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अधम ।

स्फोटवाद —

ऊपर ध्वनि काव्य के प्रकरण मे वैयाकरणों के जिस स्फोटवाद की चर्चा की गयी है उसके सम्बन्ध में यहा सक्षेप में कुछ निर्देश आवश्यक है । वैयाकरणो के यहां "स्फोट" रूप शब्द को नित्य माना गया है और "स्फुटति अस्मात् अर्थः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार उससे ही अर्थ का ज्ञान होता है । यहां वाक् के चार भेद माने गये हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी । परा और पश्यन्ती अत्यन्त सूक्ष्म हैं अतः उनका अनुसन्धान योगी लोग ही कर पाते हैं । वहां शब्द और अर्थ दोनो का तादात्म्य होता है । मध्यमा वाक् जिसका स्थान हृदय है, मे ही शब्द-अर्थ का परस्पर सकेतग्रह होता है । यही

व्यावहारिक "स्फोट" होता है । वही शब्द ब्रह्म या नाद-ब्रह्म कहलाता है । यही शब्द सुनते ही अर्थ का और अर्थ (वस्तु) देखते ही बुद्धिस्थित शब्द का अनुसन्धान हो जाता है । जब हम अपने विचारों को दूसरों पर प्रकट करना चाहते हैं तब कण्ठ-तालु, आदि के घर्षण से बैखरी वाणी का उच्चारण करते हैं । इस स्थूल प्रक्रिया से स्थूल वर्ण जब सुनने वाले के कानो में पड़ते हैं तब उनसे मध्यमा वाणी जगती है और वे वहां रहने वाले वर्णों का पद, वाक्य आदि में विभाग करके व्यजित करते हैं । इस प्रकार श्रोता सुने हुए वाक्यों का अर्थ बोध मध्यमा में करता है । बैखरी वाणी के वर्ण तो उच्चारण के समय ही नष्ट हो जाते हैं, इसलिए वे वाक्य रूप नहीं हो पाते और वाक्य ही अर्थ बोध कराते हैं, वर्ण नही । इसलिए वैखरी मे केवल वर्णों का उच्चारण और श्रोता द्वारा उनका श्रवण होता है और अर्थबोध तब होता है जब वे मध्यमा में प्रवेश कर वहा संस्कार रूप मे स्थित वाणी को जगाते है । नैयायिक लोग केवल बैखरी वाणी को शब्द मानते हैं और इस प्रकार उनकी दृष्टि मे शब्द नित्य नहीं है । वैयाकरणों के यहां मध्यमा वाणी मे शब्द-अर्थ विभक्त रूप से बुद्धि मे रहते हैं और उनका परस्पर सम्बन्ध ज्ञात होता है । वही स्फोटरूप से रहने वाले शब्द से अर्थ का बोध होता है । मूलतः स्फोट मे किसी प्रकार का विभाग नहीं होता, किन्तु उक्त व्यावहारिक स्फोट पद, वर्ण, वाक्य आदि भेद से आठ प्रकार का माना गया है । "गौः" इस शब्द का अर्थ बोध गकार, औकार तथा विसर्जनीय के योग से बने ध्वनि से नही, बल्कि मध्यमा वाणी मे स्थित "गौः" इस शब्द के व्यजित होने पर होता है । गकार के उच्चारण के बाद औकार का उच्चारण करते हैं तब गकार ध्वनि रूप वर्ण नष्ट हो जाता है । एक साथ किसी पद का उच्चारण नहीं हो पाता । इसी प्रकार वाक्य का भी एक साथ उच्चारण नहीं होता । इस परिस्थिति में वैयाकरण पदस्फोट या वाक्यस्फोट आदि की कल्पना करते हैं, जिसके अनुसार, पूर्व वर्ण के अनुभव से उत्पन्न संस्कार से सहकृत अन्त्य वर्ण के श्रवण से तिरोभूत वर्णों को ग्रहण करने वाली मध्यमा वाणी में स्थित व्यावहारिक "स्फोट"

ाब्द की स्मृति उत्पन्न हो जाती है और उससे पद या उसी प्रकार वाक्य का ज्ञान होता है और उससे ही पदार्थ या वाक्यार्थ की प्रतीति हो जाती है ।

स्फोट सुने गये ध्वनि रूप शब्द से व्यजित होता है अतः वैयाकरण लोग उस शब्द को ध्वनि कहते हैं । उन्हीं का अनुसरण करके आनन्दवर्धन ने भी व्यंग्य रूप अर्थ को व्यंजित करने वाले शब्द और अर्थ को भी "ध्वनि" कहा है । मम्मट ने आनन्दवर्धन के आधार पर ही "ध्वनि" को उत्तम काव्य कहा है ।

अभिनवगुप्त ने "ध्वनि" के पांच अर्थ किये हैं—ध्वनति इति, ध्वन्यत इति, ध्वननमिति, ध्वनति इति, ध्वनिरत्रास्ति इति । इस प्रकार क्रमशः शब्द, अर्थ, व्यापार, व्यजक अर्थ और काव्य प्रबन्ध इन पांच अर्थों में "ध्वनि" का प्रयोग हुआ है । ऊपर जहां उत्तम काव्य ध्वनि कहा गया है वहा पांचवां अर्थ है । अर्थात् इस काव्य प्रबन्ध मे "ध्वनि" है अतः वह काव्य-प्रबन्ध "ध्वनि" है और वह उत्तम काव्य है । आनन्दवर्धन ने जो "ध्वनि" का लक्षण प्रस्तुत किया है वहां भी इसी अभिप्राय से "ध्वनि" का काव्य रूप अर्थ में प्रयोग किया है । उनका पद्य इस प्रकार है-

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।।

अर्थात् जहा अर्थ स्वय को और शब्द अपने अर्थ को अप्रधान करके उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं उस काव्य विशेष को विद्वान् लोग "ध्वनि" कहते हैं ।

शब्द, अर्थ और वृत्तिया –

मम्मट ने अपने काव्यलक्षण मे शब्द-अर्थ को विशेष्य के रूप में रखा है, अतः उनके लिए आवश्यक हो जाता है कि काव्य के सम्बन्ध में सम्पूर्ण प्रकाश के लिए शब्द-अर्थ और उनकी सम्बद्ध वृत्तियों का विवेचन करें । उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने अपने अनुसार इनकी चर्चा की है, किन्तु उनका दृष्टिकोण बहुत सीमित रहा । केवल आनन्दवर्धन ने ही काव्य के मूलभूत व्यंग्य अर्थ की स्थापना

को ध्यान मे रखकर व्यजना वृत्ति की विशेष चर्चा की और आचार्य अभिनवगुप्त ने उस पर अपनी मुहर लगा दी । मम्मट ने उस सामग्री का उपयोग किया और उसे अपने ग्रन्थ में व्यवस्थित रूप दिया ।

शब्द के तीन प्रकार हैं—वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक । उन तीनो शब्द-प्रकारो के क्रमशः तीन अर्थ हैं—वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य । एक ही शब्द कभी वाचक, कभी लाक्षणिक और कभी व्यंजक भी होता है और उसी प्रकार अर्थ की भी स्थिति है । इस प्रकार ये शब्द-अर्थ के वास्तविक भेद न होकर उनकी उपाधियों के भेद हैं । एक और चतुर्थ अर्थ "तात्पर्यार्थ" भी कहा जाता है, जो भाट्ट मीमासकों के अनुसार है । इस अर्थ के माननेवाले "अभिहितान्वयवादी" कहे जाते है । इनकी मान्यता है कि आकाक्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण पदार्थो का समन्वय होने पर जो विशेष शरीर वाला अपदार्थ भी वाक्यार्थ के रूप में प्रतीत होता है वह तात्पयार्थ है । एक दूसरे मीमांसक, जिन्हें "अन्विताभिधानवादी" कहा जाता है तात्पर्यार्थ को नहीं मानते, बल्कि वाच्य को ही वाक्यार्थ मानते हैं । इनके अनुसार पदो द्वारा अन्वित पदार्थों की उपस्थिति होती है ।

मम्मट ने अन्विताभिधानवादी का पक्ष सम्भवतः स्वीकार नही किया है और अभिहितान्वयवादियों के मत के प्रति समर्थन व्यक्त किया है । मम्मट यहाँ एक और भी बात कहते हैं, वह यह कि प्रायः सभी अर्थ (वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य) व्यंजक भी होते हैं । 'प्रायः' कहने का तात्पर्य यह है कि एक "रस" रूप ऐसा अर्थ होता है जो सर्वथा व्यङ्ग्य ही होता है, व्यंजक नहीं ।

वाचक शब्द वह है जो "संकेत" की सहायता से अर्थविशेष का अभिधान या प्रतिपादन करता है । किस अर्थ में किस शब्द का संकेत है यह लोक-व्यवहार से विदित होता है । इसके अतिरिक्त व्याकरण, कोश आदि अनेक संकेत-ग्रह के साधन बताये गये हैं ।

अब यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि शब्द का संकेतित अर्थ व्यक्ति को माना जाय अथवा जाति को । कार्यनिर्वाह (अर्थक्रियाकारिता) की दृष्टि से देखा जाय तो "गौः" शब्द से जो

रूप व्यक्ति की उपस्थिति होती है न कि गोत्व रूप जाति की, अतः जाति में न मानकर व्यक्ति में संकेत माना जाना चाहिए, किन्तु मम्मट का कहना है कि व्यक्ति में शब्द का सकेत मानने पर अनन्त व्यक्तियो में अलग-अलग संकेतग्रह मानना पड़ेगा । यदि कुछ व्यक्तियों में संकेत मान करके शेष अन्य व्यक्तियों का बोध बिना संकेतग्रह के करते हैं, तो व्यभिचार दोष होता है, अतः व्यक्ति में संकेत न मानकर उसकी उपाधि में संकेत मानना चाहिए ।

उपाधि के दो प्रकार हैं—वस्तु का धर्म और वक्ता की स्वेच्छा से सन्निवेशित (शब्द) । वस्तुधर्म भी दो प्रकार का है—सिद्ध और साध्य । सिद्ध के भी दो प्रकार हैं-पहला पदार्थ का प्राणप्रद और दूसरा विशेषता का आधान करने वाला । साध्य वस्तुधर्म क्रिया रूप है । मम्मट ने अपने मत की पुष्टि के लिए महाभाष्यकार के वचन को उद्धृत किया है—"गौः शुक्लश्चलो डित्थ इति चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः" । "गौः" शब्द कहने पर इसके चार प्रकार के अर्थ गृहीत होते हैं । एक तो सम्पूर्ण गौ में रहने वाला गोत्व धर्म, दूसरे उसमें रहने वाला शुक्लत्व आदि गुण, उसके चलन की क्रिया और उसकी संज्ञा (कोई भी उस व्यक्ति का नाम) ।

मीमांसक केवल जाति में संकेत मानते हैं । उनके अनुसार उपर्युक्त चारो मे सामान्य रूप से जाति मात्र में सकेतग्रह होगा । नैयायिक लोग जातिविशिष्ट व्यक्ति मे सकेत मानते हैं और बौद्ध लोग इस प्रकरण में "अपोहवाद" स्वीकार करते हैं । मम्मट ने इन विषयों की चर्चा इसलिए नहीं की कि ग्रन्थ का विस्तार होगा, और इनका इस प्रसंग में कोई उपयोग नहीं है ।

साक्षात् संकेतित अर्थ मुख्य अर्थ है तथा उसके बोध में वाचक शब्द का जो व्यापार होता है उसे अभिधा कहते हैं । किन्तु जब मुख्य अर्थ की बाधा होती है, अर्थात् मुख्य अर्थ के साथ जब न अन्वय बनता है अथवा न तात्पर्य, तब मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन विशेष से जो अन्य अर्थ लक्षित होता है वहाँ व्यापार लक्षणा है । जैसे "गंगायां घोः" में गंगा शब्द का मुख्य अर्थ प्रवाह है, जिसमें घोष (आभीरों की

बस्ती) का आधाराधेय भाव से रहना बाधित है । अतः गंगा शब्द से गंगा से सम्बद्ध गंगा-तट में शैत्य-पावनत्व की प्राप्ति रूप प्रयोजन को मान कर लक्षणा होती है । मम्मट ने इस लक्षणा के छः प्रकार माने हैं, शैत्यपावनत्व रूप प्रयोजन को व्यंजना व्यापार से गम्य (बोध्य) माना है ।

व्यंजना का स्थापन —

मम्मट से पूर्व आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने व्यजना को स्थापित करने का प्रयास किया । यहां तक कि उनसे भी प्राचीन भामह, उद्भट प्रभृति आचार्यों ने भी । यद्यपि ध्वनि आदि शब्दों का प्रयोग नहीं किया, तथापि उन्होंने समासोक्ति, व्याजस्तुति, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलंकारों में गुणीभूतव्यंग्य के प्रभेद निरूपित किये । पर्यायोक्त अलंकार की कुक्षि में सारा व्यंग्य प्रप्रंच ही आ जाता है । इस विषय को बड़ी दृढ़ता से रसगंगाधरकार पण्डितराज ने स्थापित किया । व्यंजना ध्वनि का आधार है और वह किसी प्रकार अभिधा और लक्षणा वृत्तियों से गतार्थ नहीं ।

"अभिधावृत्तिमातृका" के लेखक मुकुल भट्ट ने अभिधा पर विशेष बल दिया है, फिर भी वे प्रयोजनवती लक्षणा को स्वीकार करते हैं । और यह मानी हुई बात है कि प्रयोजन (जैसे "गंगा यां घोषः" में शैत्य-पावनत्व रूप) किसी प्रकार अभिधा अथवा लक्षणा का विषय नहीं हो सकता, उसके लिए व्यंजना वृत्ति को स्वीकार करना अनिवार्य है ।

अभिधावृत्ति इस कारण प्रयोजन रूप अर्थ को नहीं अभिहित कर सकती, क्योंकि प्रयोजन रूप अर्थ में शब्द का कोई "सकेत" नहीं है । जैसे "गंगा" शब्द का शैत्य-पावनत्व रूप अर्थ में कोई संकेत-ग्रह नहीं है (नाभिधा समयाभावात्) । इसी प्रकार लक्षणा वृत्ति से प्रयोजन रूप अर्थ का अवगम (ज्ञान) नहीं किया जा सकता, क्योंकि लक्षणा के कारण (मुख्य अर्थ का बाध, मुख्यार्थ का सम्बन्ध और रूढि अथवा प्रयोजन में से कोई एक) यहां (प्रयोजन में) नहीं है । इस प्रकार प्रयोजन को लक्ष्य अर्थ की सीमा में नहीं माना जा सकता । यदि माना भी जाय तो उस प्रयोजन का कोई अन्य प्रयोजन बनता

है । इस प्रकार मम्मट ने व्यंजना वृत्ति को ध्वनिकार और अभिनवगुप्त के मतों का अनुसरण करते हुए, स्थापित करने का प्रयास किया ।

एक और प्रश्न इस प्रसंग में उठाया गया है कि क्यों न प्रयोजन-विशिष्ट लक्ष्य को लक्ष्य अर्थ मान लिया जाय । इस प्रकार एक अतिरिक्त शक्ति व्यजना को मानने की आवश्यकता नहीं होगी । इसका भी खण्डन मम्मट ने दार्शनिक युक्ति द्वारा किया है कि किसी ज्ञान का विषय और फल भिन्न-भिन्न समय मे उत्पन्न होते है, न कि एक ही समय में । इस प्रकार जब लक्षणा से लक्ष्य अर्थ का बोध होगा तभी प्रयोजन रूप फल का बोध नही होगा । अतः प्रयोजनविशिष्ट लक्ष्य अर्थ को लक्ष्यार्थ की कुक्षि में नही लाया जा सकता ।

इस प्रकार अनेक युक्तियों से मम्मट व्यंजना को स्थापित करते हैं । उन्होने व्यजना के अभिधामूल और लक्षणामूल भेदों की भी चर्चा की है । अभिधामूल व्यंजना में वे संयोग आदि को अभिधा के नियंत्रक मानते है ।

शब्द-अर्थ दोनो की व्यजकता का प्रसंग उपस्थित होने पर शाब्दी व्यंजना है अथवा आर्थी, इसका निर्णय प्रधानता के आधार पर माना है और एक की प्रधानता मे दूसरे की सहकारिता की बात कही है ।

रस-चर्चा —

रस की चर्चा भरत के नाट्यशास्त्र से प्राप्त होने लगती है । भरत से पूर्व भी किसी न किसी रूप में रस का विचार रहा होगा । भरत के द्वारा दिये गये कुछ आनुवंश्य श्लोको से इस बात की पुष्टि होती है । काव्यमीमांसा में राजशेखर लिखते हैं कि रस का निरूपण नन्दिकेश्वर ने किया था । "रसानाथर्वणादपि" (भ. ना. 1.17) इस कथन मे अथर्ववेद से रस के ग्रहण किये जाने की बात संकेतित है । "रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वा ऽनन्दीभवति" यह उपनिषद्वाक्य प्रसिद्ध ही है । भरत का रस विषयक दृष्टिकोण नाट्य मात्र में सीमित था, क्योंकि उनके अनुसार काव्य

"दशरूपकात्मक" ही है । अतः नाट्य में ही रस है, न कि लोक में । भरत का रस-सूत्र आगे चलकर साहित्यशास्त्रमें रसविषयक चिन्तन का मूलाधार बना ।

भामह ने नाट्य की सीमा से हट कर "काव्य" की सीमा में अपना शास्त्रीय चिन्तन प्रस्तुत किया । उनके यहां रस उपेक्षित ही रहा । महाकाव्य में उन्होंने सभी रसों के योग की बात कही है और "रसवत्" अलंकार के अन्तर्गत् रस (शृंगारादि) को माना है । साथ ही उन्होंने काव्य के माहात्म्य के प्रसंग में "स्वादु काव्य-रस" का उल्लेख किया है । आचार्य दण्डी के यहां भी रस रसवत् अलंकार के अन्तर्गत है, किन्तु उन्होंने रति के शृंगार रूप में परिणत होने की बात स्पष्ट लिखी है (का. द.-281) । दण्डी की मान्यता थी कि सभी अलंकार भले ही अर्थ (काव्य) मे रस का सेचन करें, तथापि यह सब कुछ अग्राम्यता पर ही निर्भर है । वामन अर्थ के गुण कान्ति को दीप्तिरसत्व कह कर परिभाषित करते हैं । वामन के समसामयिक उद्भट के एकमात्र प्राप्त ग्रन्थ "काव्यालंकारसारसंग्रह" में भी रस का रसवत्-अलकार के अन्तर्गत उल्लेख है । आचार्य रुद्रट अलकारवादी अवश्य थे, किन्तु उन्होने रस की विस्तृत चर्चा (चार अध्यायो मे) की और कुछ महत्त्वपूर्ण उद्भावनाएं भी कीं । उनके द्वारा स्वतन्त्र रसविषयक चर्चा ही आगे के ध्वनिवादी आचार्यो के यहां रस-चिन्तन की भूमिका बनी । उनके अनुसार देदीप्यमान वाणी के प्रसार वाला महाकवि दूसरे के लिए भी सरस काव्य की रचना करके कल्पस्थायी प्रचुर यश का विस्तार करता है (काव्यालंकार 14) ।

जैसा कि ऊपर हम कह चुके हैं, रस की चर्चा का प्रमुख आधार भरत का प्रसिद्ध रस सूत्र "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः" रहा । इस पर अभिनवभारती के अनुसार, भट्ट लोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक की व्याख्याएं तो मिलती ही हैं, स्वयं श्री अभिनवगुप्त ने भी इसकी व्याख्या की है । इन आचार्यों की व्याख्याओं को क्रमशः उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद और अभिव्यक्तिवाद की संज्ञा दी गयी है ।

उपर्युक्त चार व्याख्याकारो के अनुसार संक्षेप में भरत के रस-सूत्र की व्याख्या मम्मट ने "अभिनवभारती" के आधार पर निर्दिष्ट की है। भट्ट लोल्लट के अनुसार विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के संयोग से जिस राम आदि का अनुकरण किया जा रहा है उसमें, अर्थात् अनुकार्य राम आदि में रस की उत्पत्ति होती है। इस मत में विभावों का रति आदि स्थायी भावों के साथ सम्बन्ध उत्पाद्यउत्पादकभाव रूप होता है, अनुभावों का गम्यगमकभाव रूप तथा संचारी या व्यभिचारी भावों का पोष्यपोषक-भाव रूप होता है। सामाजिक या द्रष्टा लोग इस प्रकार साक्षात् रूप से अनुकार्य (नाट्य द्वारा अभिनेय) रामादि के अनुरूप व्यवहार करने वाले नट में स्थायी भाव (रति आदि) का आरोप कर लेते हैं और इस प्रकार उन्हें रस की अनुभूति होती है। जिस प्रकार रज्जु में अविद्यमान सर्प का भ्रमवश बोध होता है और उससे भय उत्पन्न होता है उसी प्रकार सीता आदि विषयक रामादि की रति नट या नर्तक में विद्यमान नहीं होती, तथापि अभिनय की निपुणता के कारण नट मे विद्यमान सी प्रतीत होती हुई सहृदय के चित्त मे चमत्कार उत्पन्न करती है और इस प्रकार रस के रूप में परिणत होती है।

इस मत की कमी इस अंश में मानी जाती है कि मुख्य रूप से अनुकार्य मे और गौण रूप से नट में रस की उत्पत्ति तो होती है किन्तु सामाजिक को रसानुभूति क्यों होती है यह विचार नही किया गया है। अतः श्री शकुक का मत है कि विभावादि के साथ अनुमाप्य-अनुमापक भाव रूप सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति या अनुमिति होती है। श्रीशंकुक का कहना है कि सामाजिक जिस ज्ञान से नट को जानता है वह सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञान, सशयज्ञान तथा सादृश्य ज्ञान, इन चार प्रकार के ज्ञानों से भिन्न है। इस स्थिति मे नट के कलाकौशल से, कृत्रिम भी अकृत्रिम रूप मे ज्ञात हो रहे विभाव आदि कारण कार्य तथा सहकारी के सयोग (अनुमाप्यअनुमापकभाव रूप) से स्थायी रत्यादि की सम्भावना होने लगती है और यह सम्भावना अन्य अनुमानों से विलक्षण होती है। इस प्रकार सामाजिक अपनी वासना से नट में अविद्यमान भी

उन रत्यादि भावों की रस रूप में चर्वणा करता है ।

इस मत में दो प्रकार की कमी बतलायी गयी है । एक यह कि चमत्कार तो प्रत्यक्ष ज्ञान से होता है, न कि अनुमिति आदि से, ऐसी लोकप्रसिद्धि है, जिसका इस मत में विरोध है और दूसरे, निर्दिष्ट अनुमान के अभाव में भी आस्वाद के उत्पन्न होने से रस का साक्षात्कार कर रहा हू इस प्रकार का पुनर्ज्ञान (अनुव्यवसाय) होता है ।

भट्टनायक के भुक्तिवाद के अनुसार रस की "निष्पत्ति" या "भुक्ति" न अनुकार्य रामादि में होती है और न अनुकर्ता नट में, क्योंकि वे दोनों ही तटस्थ (उदासीन) हैं । अतः रसानुभव सामाजिक को होता है । इसके लिए भट्टनायक भावकत्व और भोजकत्व नाम के दो, अभिधा से भिन्न शब्द के व्यापारो की कल्पना करते हैं । भावकत्व व्यापार से विभावादि का साधारणीकरण होता है, अर्थात् व्यक्तिविशेष का सम्बन्ध हट जाता है और तब भोग अर्थात् भोजकत्व व्यापार से सामाजिक स्थायीभाव का रस रूप में आस्वादन करता है ।

इस मत की कमी यह है कि शब्द के जिन दो व्यापारों (भावकत्व और भोजकत्व) की कल्पना की है वे अनुभवसिद्ध नहीं है । फिर भी इस मत की सबसे बड़ी देन है "साधारणीकरण" की कल्पना । इसके आधार पर ही अभिनवगुप्त ने अपने अनुसार रससूत्र का व्याख्यान किया और रस की "अभिव्यक्ति" मानी । अभिनवगुप्त रस को अलौकिक मानते हैं । लोक में जिन प्रमदा आदि का बोध कारण आदि रूप में होता है विभावन व्यापार से काव्य और नाट्य में उन्हें ही अलौकिक विभाव आदि शब्दों से व्यवहार किया जाता है । और इस प्रकार उनका 'साधारणीकरण' हो जाता है । और तब सामाजिक या काव्य का अध्ययन करने वाला उन रत्यादि भावों का अलौकिक चमत्कारी शृंगार आदि रूप में आस्वादन या चर्वणा करता है । रस की चर्वणा रसास्वाद से भिन्न नहीं है ।

(इन मतों की विशद प्रतीति के लिए मूल ग्रन्थो का अनुसन्धान आवश्यक है । यहां केवल अत्यन्त सक्षिप्त रूप में उनकी चर्चा की गयी है।)

काव्यमीमासा में राजशेखर ने रस को आत्मा के रूप में स्वीकार किया है । रस इनके यहां वस्तु-सौन्दर्य न होकर भाव-सौन्दर्य के अर्थ में गृहीत हुआ है ।

दशरूपक के रचयिता और वृत्तिकार धनंजय और धनिक भी अपना रस-सिद्धान्त रखते हैं । उनके अनुसार काव्य का अर्थ है भाव-विभाव आदि का निरूपण करने वाला शब्दार्थ और उसका रस के साथ भाव्य-भावक भाव रूप सम्बन्ध है, न कि व्यंग्य-व्यंजक भाव रूप ।

व्यक्तिविवेक के रचयिता महिमभट्ट ध्वनि-सिद्धान्त के प्रबल विरोधी होने पर भी काव्य की रसात्मकता को स्वीकार करते है, क्योंकि रसात्मकता के अभाव में काव्य ही नहीं होता है । अतः काव्य की आत्मा रस है, इस बात को वे सिद्धान्त रूप से मानते है ।

औचित्य सम्प्रदाय के आचार्य क्षेमेन्द्र भी रससिद्ध काव्य को ही काव्य मानते हैं, परन्तु औचित्य द्वारा रस अधिक आस्वादनीय बनता है इस बात को सिद्धान्त रूप से स्वीकार करते हैं । कुन्तक अपना वक्रोक्ति सिद्धान्त लेकर आये और सालंकार की काव्यता की घोषणा की और रससिद्धान्त का विरोध किया । फिर भी उनके अनेक वक्तव्यों के आधार पर रस के प्रति उनकी आस्था प्रकट होती है । कुन्तक ने रसवद् अलकार का निषेध किया है और रस को अलकार्य माना है । कुन्तक रसवत्त्व को काव्यत्व के रूप में स्वीकार करते हैं ।

मम्मट ने रस को "सकलप्रयोजनमौलिभूत" कह कर काव्य में सर्वाधिक प्रतिष्ठा तो दी ही, साथ ही रसध्वनि के रूप में उत्तम काव्य के भेद असंल्लक्ष्यक्रम व्यंग्य के अन्तर्गत रस का विवेचन प्रस्तुत किया । वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनि से रस ध्वनि का स्थान ऊँचा माना गया है । मम्मट के ध्वनिविषयक विचार का मूलाधार आनन्दवर्धन का ध्वन्यालोक है और साथ ही उसकी "लोचन" व्याख्या (अभिनवगुप्तकृत) से भी सिद्धान्ततः मम्मट सहमत तो हैं ही, मार्गनिर्देश भी प्राप्त करते हैं । "आचार्य मम्मट" नामक ग्रन्थ में प्रो. धुंडिराज गोपाल सप्रे जी ने मम्मट की कई रसविषयक

उद्‌भावनाओं की चर्चा की है–

1. मम्मट रस को काव्य का अंगी मानते है । उन्होंने गुणों का अगी रस के धर्म के रूप में निर्देश किया है। साथ ही वे रस का मुख्य अर्थ के रूप में भी निर्देश करते हैं । "मुख्यार्थहतिर्दोषः" (सू. 21) इस कथन के आधार पर प्रो. सप्रेजी का विचार है कि रस को काव्य का अंगी कह कर अस्पष्ट रूप से मम्मट ने "काव्यमीमांसा" मे राजशेखर द्वारा की गयी "काव्यपुरुष" की कल्पना को स्वीकार किया है ।

2. असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य रूप ध्वनि के विविध भेदों की कल्पना की है और अनेक प्रकार से रस के व्यंजित होने का निर्देश बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से किया है ।

3. शृङ्गारादि रसो के भेद-उपभेद निर्देश किये हैं ।

4. शान्त रस को नवम रस के रूप मे स्वीकार किया है ("निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः") । यह निर्देश मंगलौचरण में "नवरसरुचिरा" कह कर चुके थे । रुद्रट ने काव्यालङ्कार (12/3) में आठ रसो के अतिरिक्त शान्त और प्रेयान् को भी रस माना है । रुद्रट और मम्मट दोनो ने निर्वेद को शान्त रस का स्थायी भाव माना है, किन्तु सप्रेजी के अनुसार "शम" को निर्वेद के स्थान पर स्थायी भाव मानना ठीक होगा, क्योंकि सांसारिक आपत्तियों के कारण जो निर्वेद उत्पन्न होता है वह संचारी भाव होने योग्य है और "शम" तत्त्वज्ञानजन्यनिर्वेद रूप है । जैसा कि मम्मट के द्वारा दिये गये "अहौ वा हारे वा" इस उदाहरण से भी "शम" ही प्रतीत होता है ।

शान्त का प्रयोग नाट्य में सम्भव है कि नहीं इस सम्बन्ध में मम्मट ने कुछ नहीं कहा है । वस्तुतः नाट्यचर्चा उनका उद्देश्य नहीं है । "प्रेयान्" को आगे किसी ने "रस" के रूप में स्वीकार नहीं किया है ।

5. रस के मुख्य होने की स्थिति में कभी-कभी भावशान्ति आदि को उसी प्रकार प्राधान्य दिया जाता है जिस प्रकार विवाह में संलग्न (प्रवृत्त) अपने सेवक (भृत्य) के पीछे राजा चलता है । ऐसी हालत

में जैसे राजा की प्रधानता समाप्त नहीं होती उसी प्रकार रस प्रधान ही बना रहता है ।

6. भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता आदि को भी मम्मट ने रसवत्, प्रेयस् उर्जस्वि और समाहित की भांति अलङ्कार ही माना है ।

7. रसवत् आदि अलंकारों को स्वतन्त्र न मानकर उनका अन्तर्भाव मम्मट "अपरांग" नामक गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेद के अन्तर्गत करते हैं । तात्पर्य यह कि रस, भाव, भावोदय की स्थिति प्रधान होने पर वे अलकार्य या ध्वनि होते हैं और "अपराङ्ग" होने पर गुणीभूतव्यङ्ग्य ।

8. "अयं स रसनोत्कर्षी जैसे स्थलों में करुण को लेकर ध्वनित्व और शृङ्गार को लेकर गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व"—इन दो धर्मो के एक ही काव्य में आने पर मम्मट ने प्राधान्य के आधार पर व्यवस्था दी है ।

9. आनन्दवर्धन के दिशानिर्देश पर ही मम्मट ने रसगत दोषों का विवेचन कुछ और व्यवस्थित रूप में किया है और उनके परिहार का भी मार्ग दिखाया है ।

ध्वनि-चर्चा —

ध्वनि का आधार प्रतीयमान अर्थ या व्यङ्ग्य ध्वनिकार से पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में स्पष्ट हो चुका था । अपने समय के लोगो के विचार की आलोचना करते हुए पण्डितराज तो यहाँ तक कहते हैं कि भामह-उद्भट आदि ने यद्यपि अपने ग्रन्थों मे ध्वनि-गुणीभूतव्यंग्य आदि शब्दों का प्रयोग नहीं किया, तथापि वे ध्वनि को नहीं मानते थे ऐसा नहीं, क्योंकि समासोक्ति आदि अनेक अलंकारों के निरूपण द्वारा गुणीभूतव्यङ्ग्य के कितने ही भेदों का उन्होंने भी निरूपण किया और यहां तक कि पर्यायोक्त अलंकार की कुक्षि में तो सारा व्यङ्ग्य प्रपंच ही आ जाता है ।

ध्वनि, जिसका मूल आधार प्रतीयमान या व्यङ्ग्य अर्थ है भारतीय अलंकार साहित्य की सबसे महत्त्वपूर्ण उद्भावना है । इसके

महत्त्व की प्रतिष्ठा के साथ ही सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में एक प्रकार की क्रान्ति मच गई, जिसके फलस्वरूप एक नई व्यवस्था तथा नये चिन्तन का सूत्रपात हुआ । एक ओर व्यङ्ग्य के आधार पर काव्य के भेद-प्रभेद होने लगे, दूसरे अभिधा तथा वृत्तियों का विचार जो मीमांसा, व्याकरण आदि शास्त्रों का विषय था, साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में भी होने लगा । व्यङ्ग्य अर्थ के अनेक भेदो की कल्पना होने लगी और व्यंजना को अभिधा आदि से गतार्थ न होने की बात शास्त्रीय ढंग से सिद्धान्त रूप में प्रतिष्ठित हुई । रस को एक ऐसा व्यङ्ग्य माना गया जो स्वप्न में भी वाच्य नही होता । रस के अतिरिक्त वस्तु और अलङ्कार के भी व्यङ्ग्य होने की बात दृढ़ता से प्रतिष्ठित हुई, फिर साहित्यशास्त्र के अनेक पूर्वाचार्यो द्वारा विचारित तत्त्व, जैसे गुण, वृत्ति, रीति और अलंकार का स्वरूप-निर्धारण तो किया ही गया, साथ ही उन्हें योग्य स्थान मिला ।

ध्वनि की प्रतिष्ठा तो हुई किन्तु उसका विरोध भी कम न हुआ । ध्वनि के समर्थकों में जहा आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त थे वहा विरोधियों में प्रतीहारेन्दुराज, मुकुल भट्ट और महिम भट्ट थे । मम्मट ने अपने महनीय ग्रन्थ में ध्वनि के विरोधियों का खण्डन करके उसको प्रतिष्ठित करने मे भी विशेष योगदान किया । मम्मट ने वस्तुतः ध्वनि की जड़ को अपनी मेधा के बल पर सींच कर और भी मजबूत कर दिया, जिसके फल स्वरूप वह परवर्ती आचार्य द्वारा मान्य हुआ । डा. जगदीश चन्द्र शास्त्री ने मम्मट के चार विशेष अवदानों की चर्चा की है जैसे-[1] 1. रस आदि ध्वनियो के अलक्ष्य क्रमत्व का निर्धारण 2. वर्गीकरण में अभिनव भेदों का उद्भावन । 3. प्रस्तार की उचित विधि में ध्वनिसंख्या का निर्धारण 4. रसध्वनि का साधन ।

ध्वनि के आधार भूत व्यङ्ग्य अर्थ की सिद्धि व्यंजना शक्ति पर निर्भर है अतः व्यंजना शक्ति की स्वतन्त्र रूप से मान्यता का

1. ध्वनिप्रस्थान में आचार्य मम्मट का अवदान । पृ.162

प्रतिष्ठापन मम्मट का विशेष अध्यवसाय रहा । काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में ही उन्होंने "नाभिधा समयाभावात् हेत्वभावान्न लक्षणा" आदि द्वारा अभिधा और लक्षणा में व्यजना के गतार्थ होने के पक्ष को निर्मूल कर दिया और पचम उल्लास में मीमांसक आदि की युक्तियो का खण्डन करके व्यंजना, व्यङ्ग्यव्यंजकभाव एवं व्यङ्ग्य अर्थ की स्वतत्रता सिद्ध करने का सफल प्रयास किया ।

व्यङ्ग्य अर्थ के बोध के लिए व्यंजना ही एक मात्र उपाय या मार्ग है, यह बात मम्मट ने बड़े आरोप के साथ प्रतिपादित की है । इस चर्चा का आरम्भ करते हुए उन्होने व्यङ्ग्य के इन तीन रूपों (प्रकारो) का निर्देश किया है—वस्तु, अलंकार और रस । इनमें से कुछ तो वाच्यता का सहन करते हैं । वे भी दो प्रकार के हैं—विचित्र और अविचित्र । जो अविचित्र हैं वह वस्तु मात्र है और जो विचित्र है वह अलंकाररूप है । हालाकि अलंकार रूप व्यङ्ग्य अर्थ अपनी प्रधानता के कारण अलंकार्य होता है तथापि उसे भूतपूर्व स्थिति के आधार पर अलंकार रूप व्यङ्ग्य अर्थ अपनी प्रधानता के कारण अलंकार्य होता है तथापि उसे भूतपूर्वस्थिति के आधार पर अलंकार रूप कहा जाता है ।

तीसरा, रस तो सर्वथा व्यङ्ग्य ही होता है । वह स्वप्न में भी वाच्य नही होता । मम्मट की इस प्रसग में युक्ति यह है कि यदि रस वाच्य होता तो वह रस आदि या शृगार आदि शब्दों में अभिहित होता । किन्तु उन शब्दों के प्रयोग होने पर भी विभावादि के प्रयोग के अभाव मे रस की प्रतीति नहीं होती और जहाँ उन शब्दों का प्रयोग नहीं होता और विभावादि का प्रयोग होता है वहां रस की प्रतीति होती है । इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक रस के साथ विभावादि का देखा जाता है न कि रसादि या शृंगारादि शब्दों का । यहाँ तक कि रसादि अथवा शृंगारादि शब्दों का प्रयोग रस की अनुभूति में विघात उत्पन्न करता है अतः उसका रसगत दोषों के प्रकरण में स्वयं मम्मट ने भी निर्देश किया है ।

यह तो हुई रस के सर्वथा व्यंङ्ग्य होने की बात । किन्तु जहाँ

लक्षणामूल व्यड्ग्य है, जैसे अर्थान्तर संक्रमित वाच्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य रूप ध्वनि भेद, वहा वस्तु मात्र रूप व्यङ्ग्य के बिना लक्षणा भी नहीं हो सकती । लक्षणा के प्रसग मे प्रयोजन के सर्वथा व्यङ्ग्य होने की बात पहले भी (द्वितीय उल्लास मे) कह ही चुके हैं ।

इस प्रकार अभिधामूल विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के एक भेद असंलक्ष्यक्रमव्यड्ग्य तथा लक्षणामूल ध्वनि के दोनों भेद-अर्थान्तरसक्रमित वाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य मे व्यङ्ग्य के बोध के लिए व्यंजना की आवश्यकता सिद्ध करके मम्मट अभिधामूल ध्वनि के भेद के प्रकारों शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल में भी व्यङ्ग्य अर्थ के बोध के लिए व्यंजना की आवश्यकता को प्रतिपादित करते हैं । उनका कहना है कि शब्दशक्तिमूल ध्वनि मे संयोगादि द्वारा अभिधा का नियन्त्रण हो जाता है, उस स्थिति मे अभिधेय अर्थान्तर का तथा उसके साथ उपमा आदि अलङ्कार का व्यड्ग्य होना निर्विवाद है । जैसे किसी दो अर्थ वाले पद्य में (भद्रात्मनो दुरधि इत्यादि मे) अभिधाशक्ति प्रस्तुत अर्थ का बोध करा कर निवृत्त हो जाती है, किन्तु पुनः जो दूसरा अर्थ व्यङ्ग्य के रूप मे प्रतिभासित होता है उसके बोध के लिए व्यजना शक्ति की आवश्यकता हो जाती है । यदि हम किसी प्रकार उसे व्यड्ग्य न भी माने, तो दोनो अर्थो के एक साथ ज्ञान के पश्चात् प्रतीत होने वाली उपमा (उपमेयोपमानभाव) को सर्वथा व्यङ्ग्य ही माना जायेगा और उसके बोध के लिए व्यंजना शक्ति को मानना अनिवार्य होगा ।

अर्थशक्तिमूल ध्वनि मे मम्मट ने अभिहितान्वयवादी और अन्विताभिधानवादी दोनो मीमांसको की युक्तियों का खण्डन करके व्यजना की स्थापना की है । मम्मट कहते है कि दोनों ही मतो में वाक्यार्थ भी जब अभिधा से प्रतीत नहीं होता तो व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति अभिधा से कैसे सम्भव होगी । अतः उसके लिए व्यंजना ही एक मात्र साधन है ।

अभिहितान्वयवादी मीमांसको के अनुसार प्रत्येक शब्द अपनी अपनी अभिधावृत्ति द्वारा अपने अपने अर्थो का बोध करा देते हैं

तत्पश्चात् उन अर्थो के परस्पर सम्बन्ध या अन्वय रूप (तात्पर्य रूप) अर्थ की प्रतीति आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण होती है और इस प्रकार अन्वय रूप वाक्यार्थ की प्रतीति होती है । वाक्यार्थ उनके मत में पदार्थ नहीं होता । जैसे "घटं करोति" इस वाक्य का अर्थ हुआ "घटवृत्तिकर्मत्वानुकूला कृतिः" यहां घट तथा उसके अम्-प्रत्यय एव करोति का कृति रूप अर्थ तो सकेत द्वारा प्रतीत हो जाते हैं किन्तु वृत्तिरूप अर्थ तो तात्पर्यवश, परस्पर इनके संसर्ग की मर्यादा से भासित होता है जो शब्द का अर्थ न होकर वाक्य का अर्थ है ।

इसी प्रकार अन्वित होकर पद बाद मे विशिष्ट अर्थ को व्यक्त करते है इस पक्ष को मानने वाले अन्विताभिधानवादी मीमांसक हैं । वे वाच्य को "वाक्यार्थ" मानते हैं, अर्थात् परस्पर सम्बन्ध रूप, अन्वय रूप अर्थ की प्रतीति भी अभिधा से ही मानते हैं । वे मानते हैं कि पदार्थ का बोध वाक्य द्वारा होता है, न कि प्रत्येक पद अपने स्वतन्त्र अर्थ का बोध कराते है । लोकव्यवहार मे कोई बालक लोगो के वाक्यों को सुन-सुन कर ही प्रत्येक पद का अर्थ बोध करता है, न कि केवल पद मात्र के श्रवण से उसे अर्थ का बोध होता है ।

अन्विताभिधानवाद मे पहले अन्वित अर्थ का सामान्य रूप से ज्ञान होता है तब सामान्य से विशेष अर्थ की प्रतीति होती है, क्योकि बिना विशेष के सामान्य नहीं हो सकता । इस प्रकार विशेष अर्थ की प्रतीति के लिए भी अन्विताभिधानवादियों को किसी अन्य वृत्ति का सहारा लेना अनिवार्य हो जाता है, इस परिस्थिति में 'निःशेष च्युतचन्दन' इत्यादि पद्यों में, जहा विधि रूप अर्थान्तर की प्रतीति होती है वहां तो व्यंजना को मानना अनिवार्य हो जायेगा ।

एकदेशी मीमांसक का पूर्वपक्ष —

एक मीमांसक ऐसे हैं जो कहते हैं कि नैमित्तिक (कार्य) के अनुसार ही निमित्त (कारण) कल्पित होते हैं । अर्थात् व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति शब्द से होती है और शब्द से अर्थ की प्रतीति अभिधावृत्ति से होती

है । फिर व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति भी अभिधा वृत्ति से होगी । किन्तु व्यंजनावाद के समर्थन में मम्मट ऐसे लोगो से पूछते हैं कि निमित्त या कारण दो प्रकार के होते है—कारक और ज्ञापक । शब्द अर्थ के कभी कारक (उत्पादक) नही हो सकते, अतः दूसरा पक्ष, शब्द अर्थ का ज्ञापक (प्रकाशक) हो सकता है । और शब्द उसी अर्थ का ज्ञापक हो सकता है जो ज्ञात हो । शब्द अज्ञात अर्थ का ज्ञापक नहीं हो सकता । ज्ञात होना भी सकेत द्वारा ही होता है और सकेत सामान्य रूप से अन्वित मात्र में होता है। (विशेष में नहीं होता) । इस प्रकार शब्द रूप निमित्त का विशेष के साथ सम्बन्ध जब तक नहीं स्वीकार करते तब तक उससे नैमित्तिक अर्थात् विशेष रूप अर्थ की प्रतीति कैसे हो सकती है ।

इस प्रकार मम्मट ने इस मत को "अविचारिताभिधान" (बिना समझे-बूझे कथन) कह कर निरस्त कर दिया ।

भट्ट लोल्लट आदि मीमांसक के मत का खण्डन —

भट्ट लोल्लट आदि मीमांसक, जिनकी चर्चा रस-सूत्र के विभिन्न व्याख्याकारों के प्रसंग में हो चुकी है, के पक्ष को प्रस्तुत करते हुए मम्मट उनका खण्डन पूर्वक व्यंजना की स्थापना करते है । इन मीमासकों का कहना है कि बाण के एक बार के प्रयोग से जिस प्रकार कवच का भेदन, वक्ष का विदारण एव प्राण विमोचन आदि कार्य हो जाते हैं उसी प्रकार शब्द के ही अभिधा रूप व्यापार से वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य आदि अर्थों की प्रतीति हो जाती है । अतिरिक्त व्यंजना व्यापार के मानने की आवश्यकता नही, क्योंकि शब्द जिस तात्पर्य से उच्चरित होता है वही शब्द का अर्थ होता है । इस प्रकार यदि 'निःशेषच्युतचन्दनं' में विधिरूप अर्थ के तात्पर्य से शब्द का उच्चारण हुआ है तो वही उसका अर्थ होगा । इस प्रकार अभिधा ही उसके बोध के लिए पर्याप्त है । व्यंजना की आवश्यकता नहीं ।

मम्मट ने ऐसे लोगों को देवानां प्रियाः (अर्थात् मूर्ख) कहा है तथा उन्हीं की युक्तियों से उनका खण्डन किया है । उनका कहना

है कि "तात्पर्यवाचोयुक्ति" का अर्थ उन्होंने ठीक से नहीं समझा ।

मम्मट ने मीमांसा शास्त्र के सिद्धान्त की यहां गूढ़ चर्चा की है । जिज्ञासु पाठक मूल काव्यप्रकाश तथा उसकी टीकाओं के आकलन द्वारा इस बात को स्पष्ट ज्ञात कर सकेंगे । मम्मट ने यह बात कही है कि शब्द का तात्पर्य उतना मात्र होता है जितना वाक्य मे आये हुए शब्द से वृत्ति द्वारा प्राप्त होता है । न कि जितना प्रतीत होता है उतने में शब्द का तात्पर्य होता है ।

"विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्था:" (विष खा ले पर इसके घर में न खा) इस वाक्य का तात्पर्य 'इसके घर में न खा' इसमें है और वही वाक्य का अर्थ है । यहा भी मम्मट कहते हैं कि उक्त वाक्य मे आया हुआ "च" शब्द दोनों की एकवाक्यता का सूचक है । दोनों वाक्यों के एक वाक्य होने के कारण "विष के खाने से भी अधिक खराब इसके घर मे भोजन करना है, अतः सब तरह से इसके घर मत खा" इस प्रकार, उपात्त (प्राप्त) शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य है । यह मम्मट का पक्ष है ।

मम्मट एक और दूसरी युक्ति इस प्रसंग में यह देते हैं कि यदि शब्द के सुनने के पश्चात् जितना अर्थ प्राप्त या प्रतीत होता है उतने में एक मात्र अभिधा ही व्यापार माना जाय तो "तुझे पुत्र हुआ" (तव पुत्रो जातः) ऐसे वाक्यों से हर्ष आदि जैसे भावों का अनुभव होता है तो उसे भी वाच्य ही माना जाना चाहिए । और जो मीमांसक स्वयं लक्षणा (अभिधा से अतिरिक्त) को मानते हैं, क्यों ? लक्ष्य अर्थ में भी अभिधा दीर्घदीर्घतर व्यापार ही से प्रतीति बन जायेगी ! और तीसरी बात जो स्वयं मीमांसको के लिए बड़ी कठिनाई उत्पन्न करने वाली है वह है "श्रुतिलिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम्—यह लिङ्ग की अपेक्षा श्रुति की बलवत्ता और "वाक्य" की अपेक्षा लिङ्ग की बलवत्ता की बात क्यों मानी जाती है ?

अतः अन्विताभिधानवादी मीमांसकों के मत में भी निःशेषच्युतचन्दनं इत्यादि स्थलों में "विधि" के व्यङ्ग्य होने की बात

सिद्ध होती है, और उसके लिए व्यजनावृत्ति का स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है ।

दोषों की नित्यता और अनित्यता एवं व्यजना की सिद्धि —

काव्यशास्त्र में अश्लीलत्व को दोष माना गया है-"कुरु रुचिम्" इन दोनो के प्रयोग को उलट कर पढ़ने पर "चिकु" शब्द की प्रतीति होने लगती है । कहते हैं, कश्मीरादिभाषाओ में इस शब्द का कोई अश्लील अर्थ है । कविता मे ऐसे प्रयोग को कैसे दोषयुक्त माना जा सकता है जब कि उसके लिए ऐसा शब्द नही प्रयुक्त हुआ है जिसका ऐसा असभ्य अर्थ हो, किन्तु जब असभ्य अर्थ प्रतीति अनिवार्य रूप से होती है तो उसे व्यंङ्ग्य मानना ही होगा और उस व्यङ्ग्य के लिए व्यंजना की अनिवार्यता होगी ही ।

दूसरी युक्ति यह है कि कुछ ऐसे दोष है (जैसे असाधुत्व आदि) जो नित्य दोष माने जाते हैं और कष्टत्व आदि अनित्य दोष माने जाते हैं । यदि वाच्य-वाचकत्व भाव के अतिरिक्त व्यङ्ग्य व्यंजकत्वभाव को स्वीकार नहीं करेंगे तो उक्त दोषों की नित्यता एवं अनित्यता की बात नहीं बनेगी । किन्तु सहृदय जनो की अनुभूति के अनुसार ऐसा विभाग बनता है । यदि व्यङ्ग्यव्यंजकभाव को अतिरिक्त रूप से मान लेते है तो व्यङ्ग्य के बहुविध होने के कारण कहीं किसी के औचित्य के कारण उस प्रकार के विभाग की व्यवस्था भी बन जायेगी । और भी, औचित्य के भेद से व्यंजना की सिद्धि 'कुमारसंम्भव' के इस पद्यार्थ में "द्वय गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः" में "पिनाकिनः" के स्थान पर "कपालिनः" के प्रयोग का काव्य की दृष्टि से औचित्य या अनुगुणत्त्व की बात बिना व्यंजना शक्ति के माने नहीं बन सकती ।

वाच्य से व्यङ्ग्य के भेद के अनेक साधक प्रमाण —

इसी प्रकार मम्मट ने वाच्य से व्यङ्ग्य अर्थ के भिन्न होने की बात सिद्ध करने के लिए कई तर्क दिये हैं—जैसे नियतत्वानियतत्व का भेद अर्थात् वाच्य अर्थ नियत (एक) होता है जब कि व्यङ्ग्य, जानने वालों के भेद से अनवधि या अनियत होते हैं । स्वरूप का

भेद-जैसे वाच्य आदि विधि रूप हैं तो व्यङ्ग्य निषेध रूप हो सकता है । कालभेद- वाच्य की प्रतीति पहले होती है तब व्यङ्ग्य की । आश्रयभेद- वाच्य अर्थ शब्द के आश्रित होते है जब कि व्यङ्ग्य अर्थ पद-पदैकदेश-अर्थ-वर्ण-संघटना के आश्रित होते हैं । निमित्त-भेद- वाच्य अर्थ की प्रतीति के लिए व्याकरणज्ञान से काम चल जाता है, किन्तु व्यङ्ग्य की प्रतीति के लिए प्रकरण आदि की सहायता तथा प्रतिभा के नैर्मल्य की सहायता की अपेक्षा होती है । व्यपदेशभेद- वाच्य अर्थ के जानकार को केवल बोद्धा कहते हैं, जबकि व्यड्ग्य अर्थ के ज्ञाता को 'विदग्ध' की सज्ञा देते हैं । कार्यभेद- वाच्य अर्थ से प्रतीति मात्र होती है और व्यङ्ग्य से चमत्कृति भी निष्पन्न होती है । इसी प्रकार, सख्याभेद और विषयभेद भी वाच्य से व्यङ्ग्य के भिन्नत्व के साधक हैं ।

लक्षणावादी के विचार तथा उनका खण्डन —

व्यंजना से अभिधा के भेद दर्शाते हुए सख्या आदि अनेक कारणों को प्रस्तुत किया गया । माना कि वाच्य अर्थ नियत रूप से एक होता है और व्यङ्ग्य अर्थ अनेक भी हो सकते है, तो क्या लक्ष्य अर्थ भी अनेक हो सकते हैं ? इस आधार पर क्यों नही, लक्षणा से काम चलाया जाय, अतिरिक्त व्यजना को मानने की आवश्यकता क्या है; दूसरे, जो वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य के बोद्धा के लिए विदग्ध जैसा विशेष व्यपदेश (नाम) देने की बात कह कर व्यंजना को अलग बताने की चेष्टा की गई थी वह भी ठीक नही, क्योकि लक्ष्यार्थ के भी अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य आदि रूप विशेष व्यपदेश के हेतु हो सकते हैं और तीसरे यह कि जिस प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ का ज्ञान शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना के द्वारा शब्द और अर्थ दोनों से हो सकता है तो यही बात लक्ष्य अर्थ के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है । अर्थात् उसकी प्रतीति भी शब्द और अर्थ दोनों से होती है । ऐसी स्थिति में लक्षणा से ही व्यंजना का काम चल जाता है । अतिरिक्त व्यंजना को मानने की आवश्यकता नहीं । कहने का तात्पर्य कि व्यङ्ग्य या प्रतीयमान अर्थ की कल्पना व्यर्थ है ।

इस के उत्तर में मम्मट समाधान इस प्रकार देते हैं कि यद्यपि लक्ष्य अर्थ अनेक हो सकते हैं तथापि अनेकार्थ शब्द के वाच्यार्थ की भाति वे भी नियत ही होते हैं । वाच्य से अनियत सम्बन्ध वाले अर्थ की लक्षणा से प्रतीति नहीं हो सकती, किन्तु प्रतीयमान या व्यङ्ग्य अर्थ तो प्रकरण आदि के कारण नियतसम्बन्ध, अनियतसम्बन्ध और सम्बद्धसम्बन्ध भी रूपो में द्योतित होता है ।

दूसरे, विविक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि में मुख्यार्थ की बाधा नही होती, फिर लक्षणा से कैसे उसकी प्रतीति होगी ? और यह बात पहले कही जा चुकी है कि लक्षणा मे प्रयोजन के ज्ञान के लिए व्यंजना की सहायता अनिवार्य हो जाती है । इस प्रकार लक्षणा अभिधानुगत होकर चलने वाली वृत्ति है जब कि व्यंजना स्वंतत्र है । अभिधा और लक्षणा की अपेक्षा व्यंजना का क्षेत्र सर्वथा व्यापक है अतः उनसे वह गतार्थ नही हो सकती ।

इन युक्तियों के आधार पर जिसे ध्वनन आदि नाना पर्यायो से कहा जाता है वह व्यंजना व्यापार अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा इन तीनों व्यांपारों से अतिरिक्त सिद्ध होता है ।

अखण्डार्थतावाद की आलोचना —

वेदान्ती लोगों का कहना है कि "सत्यं ज्ञानमनन्तं" इत्यादि वेदान्त-वाक्य अखण्ड रूप में ही अखण्ड ब्रह्म के वाचक होते हैं । इनमें पद-पदार्थ का विभाग नहीं बनता । क्योंकि वाक्य में धर्मधर्मिभाव को माने बिना क्रिया-कारक द्वारा शब्दों की प्रवृत्ति नहीं होती और, धर्मिधर्मभाव या तो प्रपंचविषयक होगा या ब्रह्म-विषयक । प्रपंच (दृश्य जगत्) तो मिथ्या होने के कारण बाध्य हो जाता है, जैसे रज्जु में दृश्य सर्प । और ब्रह्म तो धर्म-शून्य होता है अतः उसमें धर्म-धर्मिभाव नहीं बन सकता । ऐसी स्थिति में अखण्ड वाक्य से अखण्ड ब्रह्म रूप अर्थ की प्रतीति होती है । अतः इन वेदान्तियों के इस सिद्धांन्त के आधार पर प्रतीयमान अर्थ के विषय में वाक्य की शक्ति ही उपयोगी होगी, व्यंजना मानने की बात व्यर्थ है ।

मम्मट इस विचार का खण्डन करते हुए कहते हैं कि व्यावहारिक सत्ता मे आकर इन वेदान्तियों को भी वाक्य मे पद-पदार्थ की कल्पना अवश्य करनी पड़ेगी । उनके लिए मम्मट ने "अविद्यापदपतितैः" पद का प्रयोग किया है । अविद्या के पद से तात्पर्य व्यावहारिक सत्ता की स्थिति है । वेदान्ती लोग पारमार्थिक, प्रातिभासिक और व्यावहारिक ये तीन प्रकार की सत्ता मानते है । इसी कारण वे "व्यवहार" मे "भट्टनय" को स्वीकार करते है, अर्थात् मीमासक कुमारिल भट्ट के अनुसार चलते है ।

"काव्यप्रदीप" (गोविन्दठक्कुरचित काव्यप्रकाश की व्याख्या) पर 'प्रभा' के रचयिता वैद्यनाथ तत्सत् ने "अखण्डार्थतावाद" को वैयाकरणो का मत निर्दिष्ट किया है । वैयाकरण लोग वाक्य-स्फोट के सिद्धान्त को मानते हैं । वैयाकरणो के अनुसार प्रकृति-पद-पदार्थ का विभाग "असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्य समीहते" इस सिद्धान्त के अनुसार केवल काल्पनिक होता है, अर्थात् अज्ञानी जनो के बोध कराने के लिए होता है । इनका भी उत्तर "अविद्यापदपतितैः" इस शब्द मे मम्मट ने दे दिया है, क्योकि अविद्या या असत्य का अवलम्बन करके वैयाकरण भी तो पद-पदार्थ की कल्पना करते ही हैं । अतः उन्हें भी 'निःशेषच्युतचन्दन स्तनतटम्" मे विधिरूप अर्थ के बोध के लिए व्यंजना का आश्रयण करना ही होगा ।

इस प्रकार मम्मट ने एक ही युक्ति से यहां अखण्डार्थतावादी अद्वैत वेदान्ती और वैयाकरण दोनों के मतों को निरस्त करके व्यंजनावाद की स्थापना की है । यदि मम्मट को सम्पूर्णतया वैयाकरण न माना जाय जैसा कि कुछ-लोगो का विचार है तो यह अखण्डार्थतावाद केवल वेदान्तियो का मत सिद्ध होता है वैयाकरणों का नहीं ।

ध्वनि के अनुमान में अन्तर्भाव की आलोचना —

"व्यक्तिविवेक" नामक अपने ग्रन्थ मे महिम भट्ट ने सभी ध्वनि-भेदों को अनुमान में अन्तर्भूत करने की प्रतिज्ञा की है । उन्होंने नैयायिक प्रक्रिया का अवलम्बन लिया है अर्थात् व्यंङ्ग्यव्यजक भाव

को अनुमान रूप सिद्ध करने के लिए व्याप्तिऔर पक्षधर्मता का सहारा लिया है । पहले उनके पक्ष को स्थापित करते हुए मम्मट कहते है कि वाच्य से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति नहीं होती है, यदि ऐसा होने लगे तो किसी शब्द के किसी अर्थ की प्रतीति होने लग जायेगी । ऐसी स्थिति में व्यङ्ग्यव्यंजक-भाव भी प्रतिबन्ध अर्थात् व्याप्ति के बिना नही हो सकता । अनुमान मे हेतु का व्याप्त होना (व्याप्तियुक ोना) नियतधर्मिनिष्ठ होना (पक्षधर्मतायुक्त होना) तथा पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व तथा विपक्षव्यावृत्तत्वरूप होना आवश्यक है, जैसे, 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इस स्थल में धूम रूप हेतु का वह्नि रूप साध्य के साथ साहचर्य देखा गया है और धूम पक्ष पर्वत मे विद्यमान है । साथ ही वह पक्ष (पर्वत) में तथा सपक्ष (महानस, रसोईघर) मे है और विपक्ष (तालाब) में नही है अतः इस धूम रूप हेतु से वह्नि रूप साध्य का अनुमान होता है । यही नैयायिको कें अनुमान की सामान्य प्रक्रिया है ।

मम्मट ने इस प्रसंग मे एक प्रसिद्ध प्राकृत गाथा प्रस्तुत की है, जिसमे प्रिय मिलन में विघ्न डालने वाले एक धार्मिक से नायिका का इस प्रकार कथन प्रस्तुत है—

"हे धार्मिक, तुम बिना डर-भय के घूमो, गोदावरी के कछार के जगल में रहने वाले मतवाले उस सिह ने आज उस कुत्ते को मार डाला है ।"

यहां, अनुमान की प्रक्रिया इस प्रकार होगी —

गोदावरी तीर भीरु (डरपोक) के भ्रमण के योग्य नहीं है । (यह साध्य हुआ) क्योंकि भय का कारण सिह वहां प्राप्त है (यह हेतु हुआ) भीरु व्यक्ति वहीं भ्रमण करता है जहा कोई भय का कारण न हो । गोदावरी के तट पर भय का कारण सिंह है अतः वह भीरु के भ्रमण के योग्य नहीं ।

इस अनुमान की प्रक्रिया के अवलम्बन द्वारा 'मत घूमो' यह अर्थ प्राप्त हो जाता है, अतः व्यंजना की आवश्यकता नहीं ।

आचार्य मम्मट इस अनुमानवाद का खण्डन नैयायिकों की युक्ति

का अवलम्बन करके ही करते हैं । नैयायिकों के अनुसार "हेतु" "पंचविध हेत्वाभास" से ग्रस्त नहीं होना चाहिए । यदि एक भी हेत्वाभास किसी हेतु मे हो जाय तो उससे अनुमान नहीं हो सकता । मम्मट का कहना है कि इस प्रसंग में जो हेतु दिया गया है वह "अनैकान्तिक " नामक हेत्वाभास से ग्रस्त है । क्योकि जो कहा गया है कि भीरु व्यक्ति वहीं जाता है जहां कोई भय का कारण नही होता, ऐसी बात नहीं । यदि गुरु की आज्ञा हो, स्वामी का आदेश हो अथवा प्रिय के प्रति अनुराग हो या अन्य भी ऐसे कोई कारण हो तो भीरु व्यक्ति भी भयकारण होने पर भी भ्रमण करता ही है ।

यह तो एक प्रकार के हेत्वाभास की बात हुई । दूसरे, वह हेतु विरुद्ध भी है, क्योकि कोई ऐसा भी व्यक्ति हो सकता है जो कुत्ते से तो डरता है किन्तु वीर होने के कारण सिह से नहीं डरता ।

तीसरे, "स्वरुपासिद्ध" नाम का हेत्वाभास भी इस हेतु में है क्योंकि गोदावरी के तीर पर सिह का होना न तो प्रत्यक्ष से और न अनुमान से ही निश्चित है । अपितु वचन से निश्चित होता है । वचन की प्रामाणिकता के न होने से अर्थात् पक्ष मे हेतु के न होने से हेतु "स्वरूपासिद्ध" नामक हेत्वाभास से ग्रस्त है । अतः मम्मट इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि इस प्रकार के हेतु से किसी प्रकार साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

किन्तु व्यंजनावाद में ऐसे अनैकान्तिक हेतु से भी अभीष्ट व्यङ्ग्य अर्थ की प्रतीति होती है जैसा कि "निःशेषच्युतचन्दनं." के प्रसग में देखा गया है । व्यंजनावाद में उपपत्ति की उस प्रकार अपेक्षा नहीं होती । उस पक्ष में वह दोष नही माना जाता । अनुमान में तो बिना उपपत्ति की अपेक्षा के किसी प्रकार साध्य की सिद्धि नही होती ।

इस प्रकार बड़े आटोप के साथ मम्मट ने विभिन्न मीमांसक वैयाकरण, नैयायिक की शास्त्रीय युक्तियों का निराकरण करके व्यंजनावाद को स्थापित ही नहीं दृढमूल भी करने का प्रयास किया है ।

गुणीभूतव्यङ्ग्य —

जहां व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्य में अधिक चमत्कार का अनुभव होता है वहां गुणीभूतव्यङ्ग्य या मध्यम काव्य होता है । वस्तुतः व्यङ्ग्य की अपेक्षा वाच्य जब अधिक सुन्दर हो जाता है तभी गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होता है । आनन्दवर्धन के यहां इसका निरूपण कुछ व्याकीर्ण हो गया है, किन्तु मम्मट ने इसे अधिक व्यवस्थित रूप प्रदान किया है । डा. जगदीशचन्द्रशास्त्री ने असुन्दरता के भाव को ही व्यङ्ग्य अर्थ में गौणता का मूल आधार माना है, किन्तु मम्मट ने असुन्दर नाम का एक पृथक् भेद ही बताया है । मम्मट ने इसके आठ भेद बताये हैं—1. अगूढ 2. अस्फुट 3. तुल्यप्राधान्य 4. अपराङ्ग 5. सन्दिग्धप्राधान्य 6. काक्वाक्षिप्त 7. वाच्यसिद्ध्यङ्ग तथा 8. असुन्दर ।

डा. शास्त्री का कहना है कि असुन्दरता का भान वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्य में उक्त सभी भेदों में समान रूप से अनुस्यूत रहता है । फिर भी तत्तत् विशेषताओं के कारण तत्तत् भेद स्थिर किये गये हैं और जहां असुन्दरता के अतिरिक्त और कोई कारण नहीं होता वहां मात्र असुन्दर नाम का भेद होता है ।

अपराङ्ग नामक गुणीभूतव्यङ्ग्य में मम्मट ने रसवत् आदि को अन्तर्भुक्त किया है, जब कि आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त उन्हें "अलङ्कार" के रूप में स्वीकार करते हैं । मम्मट के विचार में रस तो सर्वथा ध्वनि या उत्तम काव्य की मर्यादा तक पहुंचता है, किन्तु रसवत् आदि को अलङ्कार (अधम काव्य) की कोटि में रखना उचित पक्ष नहीं था । अतः उन्होंने रसवदादि को मध्यम काव्य का दर्जा दिया और "अपराङ्ग" के अन्तर्गत माना ।

मम्मट के सिद्धान्त में किसी का किसी के अङ्ग होना या किसी की अपेक्षा किसी का गुणीभूत होना "कवि-सरंम्भ-गोचरता" पर निर्भर करता है । महाभारत के स्त्रीपर्व के 24 वें अध्याय के पद्य "अयं स [illegible]नोत्कर्षी" में प्रसङ्ग करुण रस का है—क्योंकि रण में कटे भूरिश्रवा के हाथ को लेकर उसकी पत्नी विलाप करती हुई कह

रही है । वह शृङ्गार के प्रसंगों का स्मरण कर रही है । फलतः शृङ्गार यहाँ करुण का अङ्ग बन गया है ।

ध्वनि के भेद —

काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास मे मम्मट ने ध्वनि के प्रमुख 51 भेदों का निर्देश किया गया है, किन्तु उनके पूर्व लोचनकार अभिनवगुप्त ने शुद्ध ध्वनि के 35 भेद माने हैं । मम्मट की गणना के अनुसार प्रमुख 51 ध्वनि-भेदों की गणना इस प्रकार है—ध्वनि के प्रथम दो भेद है-अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) और विवक्षितान्य परवाच्य (अभिधामूल) । अविवक्षितवाच्य के दो भेद होते है—अर्थान्तरसक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य । विवक्षितान्यपरवाच्य के भी दो भेद होते हैं—असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य । इनमें, संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य के तीन भेद किये हैं—1. शब्दशक्त्युत्थ, 2. अर्थशक्त्युत्थ तथा 3. उभयशक्त्युत्थ । शब्दशक्त्युत्थ के दो भेद किये है—वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि । अर्थशक्त्युत्थ के तीन भेद किये है—स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध । ये तीनो ही वस्तु से वस्तु, वस्तु से अलकार, अलकार से वस्तु और अलकार से अलंकार-इन प्रभेदों के कारण प्रत्येक के चार-चार होने से बारह हो जाते हैं । उभयशक्त्युत्थ एक ही प्रकार का है । इस प्रकार पिछले 3 तथा ये 12 मिलकर 18 भेद होते है । उभयशक्त्युत्थ भेद केवल वाक्यगत होता है, उसे छोड़ शेष 12 भेद पदगत तथा वाक्यगत होने से 34 हो जाते हैं । अर्थशक्त्युद्भव पदगत और वाक्यगत होने के साथ प्रबन्धगत भी होता है अतः 12 भेद और जोड़ देने से 46 भेद तथा उभयशक्त्युत्थ का एक भेद मिल जाने से 47 भेद होते हैं । इन में असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भेद, जो पदगत और वाक्यगत रूप में जोड़ा गया है, पदांशगत वर्णगत, रचनागत तथा प्रबन्धगत भी हो सकता है अतः 47 में इन चारों को जोड़ देने से 51 भेद होते हैं ।

इन्हें परस्पर मिलाने पर (अर्थात् अपने इक्यावन भेदों के साथ मिलने पर) तीन प्रकार के संकर तथा एक प्रकार की संसृष्टि के आधार

पर चार गुना करने पर 51x51=2601x4=10404, इतने भेद हो जाते हैं और शुद्ध 51 भेद जोड़ने पर इनकी संख्या 10455 हो जाती है । लोचनकार ध्वनियों की सख्या 7420 बताते है, जब कि साहित्यदर्पण कार के अनुसार 5355 ध्वनि भेद हैं ।

इस विषय के विस्तार से आकलन के लिए मूल ग्रन्थो को देखा जा सकता है ।

रीति और गुण —

मम्मट के पूर्ववर्ती वामन ने "रीति" को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित किया । वामन "विशिष्टा पदरचना" को "रीति" कहते है, उसमे जो विशेष है वह वामन के अनुसार गुण है, अर्थात् गुणो से विशिष्ट पद-रचना ही काव्य की आत्मा है । गत्यर्थक रीङ् धातु से "क्तिन्" प्रत्यय करने पर "रीति" शब्द बनता है, जो "मार्ग" का पर्याय है । भामह ने रीति या मार्ग को महत्त्व नहीं दिया क्योकि उनके यहा यह काव्य-भेद का आधार नही बन सकता । भामह के समय मे "वैदर्भ" को श्रेष्ठ और अर्थसौष्ठवयुक्त भी काव्य को श्रेष्ठ न मानने वाले लोग थे । भामह उनका खण्डन करते हैं और कहते है कि वैदर्भ और गौड को अलग काव्यभेद मानना गतानुगतिकता मात्र (केवल लीक पर चलना) है, इसमे कोई बुद्धिमत्ता नही । किसी देश मे अच्छी रचना होती है और किसी मे नही, यह बात नही बनती । रचना व्यक्ति भेद से अच्छी या बुरी अवश्य हो सकती है । भामह इसी प्रसंग में कहते हैं—वैदर्भ काव्य मे पुष्ट अर्थ का अभाव तथा वक्रोक्ति की कमी हो तो वह प्रसन्न, ऋजु तथा कोमल होने से संगीत की भाति श्रुति-मधुर होकर रह जायेगी । और गौड काव्य भी अच्छा होगा, जो अलकारयुक्त ग्राम्यतारहित अर्थवान् एवं सरल हो । आगे चलकर कुन्तक ने भी रीतियों के आधार पर काव्य-भेद का विरोध किया । दण्डी ने वैदर्भ और गौड इन दो मार्गो को माना । उनके अनुसार वाणी के अनेक मार्ग हैं किन्तु उनका परस्पर सूक्ष्मभेद है । किन्तु इन दोनों मार्गों का भेद स्पष्ट है ।

देश-भेद से काव्य-भेद की प्रवृत्ति का समर्थन "हर्षचरित" मे लिखित बाणभट्ट के इस पद्य से भी मिलता है-

श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः ।।

उत्तर वालो मे श्लेष की मात्रा अधिक होती है, पश्चिम वाले अर्थ मात्र पर ज़ोर देते हैं । दक्षिण वाले उत्प्रेक्षा का प्रयोग करते है और गौड (पूर्व वाले) कवियो मे शब्दाडम्बर होता है । नैपधकार श्रीहर्ष ने भी श्लेषपूर्ण ढंग से वैदर्भी रीति की प्रशसा की है-[1]

"धन्याऽसि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।"

मम्मट ने "वृत्त्यनुप्रास नामक अनुप्रास अलकार के एक भेद के अन्तर्गत रीतियो का अन्तर्भाव कर दिया है । उनके अनुसार, माधुर्यव्यजक वर्णों वाली उपनागरिका वृत्ति में वैदर्भी का, ओजस् गुण के व्यजक वर्णो वाली परुषा वृत्ति मे गौडी का तथा प्रसाद गुण के व्यजक वर्णो वाली कोमला वृत्ति मे पाचाली का अन्तर्भाव हो जाता है ।

मम्मट रीतियो के आधारभूत गुणो को रस के धर्म के रूप में स्वीकार करते है और काव्य में रस की प्रतिष्ठा के लिए काव्य के शरीर, शव्द-अर्थ के विशेषण के रूप में "सगुणौ" शब्द का प्रयोग करते है ।

वामन ने शब्दगत और अर्थगत दस-दस गुण माने है, जो इस प्रकार है—ओजस्, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति और कान्ति । वामन के यहाँ इस शब्दगत और अर्थगत गुणो के नाम तो समान है, किन्तु लक्षण या स्वरूप भिन्न हैं । भरत और दण्डी के यहाँ भी गुण मान्य है । वामन ने "कान्ति" नाम के गुण मे "रस" का संकेत किया है । मम्मट ने गुणो को शव्दगत माना है और उनकी तीन ही संख्या निर्धारित की है— माधुर्य, ओजस् और प्रसाद । अन्य गुणो का इन तीनो में अन्तर्भाव

1. "विक्रमाकदेवचरित" में बिल्हण तो वैदर्भी की प्रशसा इन शब्दो में करते हैं-

अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः ।
वैदर्भरीति. कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम् ।। 1/9

कर दिया है तथा कुछ को दोषाभाव रूप तथा कुछ को दोष रूप मानकर निरस्त कर दिया है । मम्मट ने इस गुणत्रयवाद को भामह के अनुसार स्वीकार किया है । मम्मट ने गुणों को साक्षात् रूप से रस से सम्बद्ध माना है, शब्द-अर्थ रूप काव्य पर उन्हें आरोपित माना है । जिस प्रकार शूरता आदि धर्म साक्षात् रूप से आत्मा के होते हैं और शरीर पर उन्हें आरोपित करके किसी व्यक्ति को "शूर" आदि कहते है उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण साक्षात् काव्य की आत्मा रस के है । शब्द-अर्थ पर उनका आरोप मात्र होता है ।

अलङ्कार —

भामह के युग से ही "अलंकार" शब्द सम्पूर्ण काव्य-शास्त्र के लिए व्यापक अर्थ में भी प्रयुक्त होता रहा । काव्य-सौन्दर्य के निष्पादक सभी तत्त्व "अलकार" कहे जाते रहे है । इसी लिए वामन ने "सौन्दर्यमलङ्कारः" कहा । दण्डी ने भी "काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलकारान् प्रचक्षते" कहा । और काव्य के शोभाधायक धर्मों को अलकार माना । यह तो हुआ "अलकार" का विस्तृत अर्थ मे प्रयोग । साथ ही उसका उपमा आदि के सकुचित अर्थ मे भी प्रयोग होता रहा । भामह की दृष्टि में, वक्र शब्द का प्रयोग वाणी का अलकार है । (वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः1/36) । तात्पर्य यह कि वाणी का चमत्कार या चमत्कारपूर्ण वाणी ही काव्य है और उसका मूल आधार है शब्द और अर्थ की वक्रता । भामह ने अतियोक्ति या लोकातिक्रान्तगोचर वचन (सामान्य लौकिकता से ऊपर उठकर बात कहना) को अलंकार का मूलतत्त्व माना है । इस प्रकार वक्रोक्ति और अतियोक्ति को आगे के आचार्यों ने भी अलकारो के मूल आधार के रूप में स्वीकार किया । दण्डी, आनन्दवर्धन और मम्मट ने मुक्तकण्ठ से इस मत को अपनाया । वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति तो प्रायः पर्याय के रूप में ही स्वीकार किये गये । यह भी ध्यातव्य है कि ये दोनों ही पृथक्-पृथक् अलकार-विशेष के रूप में स्वीकृत हुए ।

इस प्रकार "अलकार" शब्द एक ओर जहा सामान्यतः काव्य

के आपादक तत्त्व के विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त हुआ तो वहां दूसरी ओर उपमा आदि अलंकारों के संकुचित अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ ।

भामह तथा दण्डी ने गुण और अलंकार में भेद नहीं माना । 'भामहविवरण' के लेखक उद्भट भी ऐसा ही विचार रखते हैं । वामन भी उनमें कोई स्पष्ट भेद का निर्देश नहीं करते, केवल कहते हैं—काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः (काव्य शोभा के उत्पादक धर्म गुण तथा उसे बढ़ाने वाले धर्म अलंकार हैं)

आनन्दवर्धन ने गुणों को अंगी रस के आश्रित तथा अलकारों को शब्द एवं अर्थ के आश्रित माना और इस प्रकार उन्होंने स्पष्ट भेद का निर्देश किया-

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलंकारा मन्तव्याः कटकादिवत् ।।

मम्मट ने गुण और अलङ्कार का भेद स्पष्ट करते हुए दोनो के लक्षण क्रमशः इन शब्दो में प्रस्तुत किये-

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ।।66।। का. प्र.

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।।67।। का. प्र.

अर्थात् आत्मा के शौर्य आदि धर्मों की भांति अङ्गी रस के जो उत्कर्षाधायक तथा अपरिहार्य धर्म हैं वे गुण कहलाते हैं । और, जो विद्यमान (रस) को (शब्द-अर्थ रूप) अङ्गों द्वारा कभी-कभी उपकृत करते हैं वे हार आदि की भांति (काव्य के) अलंकार हैं ।

मम्मट के अनुसार गुण काव्य के अपरिहार्य धर्म हैं जब कि अलकार परिहार्य; गुण अङ्गी रस के आश्रित होते हैं जब कि अलंकार अङ्ग (शब्द-अर्थ) के; गुण प्रत्येक स्थिति में तथा साक्षात् रस के उत्कर्षाधायक हैं जब कि अलंकार रस के रहने पर और परम्परा से उत्कर्षाधायक हैं । रस के अभाव में, अलंकार केवल उक्तिवैचित्र्य मात्र होकर रह जाते हैं । रस में गुण समवाय-सम्बन्ध से रहते

हैं जब कि अलंकार काव्य-शरीर (शब्द और अर्थ) में संयोग सम्बन्ध से रहते हैं ।

मम्मट ने अपने काव्य-लक्षण में भी "सगुणौ" कह कर गुणों की अनिवार्यता तथा "अनलङ्कृती पुनः क्वापि" कह कर अलंकारों के महत्त्व को कम कर दिया । अभिनवगुप्त ने भी "लोचन" में बड़े स्पष्ट शब्दों में काव्य में आत्मभूत रस के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए अलंकारों की उपयोगिता को रस की स्थिति में ही माना । जैसे आत्मा से रहित (मृत) वनिता के शरीर पर अलंकारों की शोभाधायकता व्यर्थ हो जाती है ।

अलंकारों के शब्दगत और अर्थगत रूप में विभाजन भामह में तो मिलता ही है, किन्तु भरत ने उपमादि अर्थालङ्कार और यमक इस शब्दालंकार का उल्लेखमात्र किया है । दण्डी ने भी दोनों का विभाजन इसी रूप में किया । मम्मट ने भी यही ढंग अपनाया और नवम उल्लास में शब्दालंकारो का तथा दशम में अर्थालंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया । मम्मट दोष, अलंकार आदि के शब्दगतत्व तथा अर्थगतत्व के विभाजन का आधार केवल मात्र अन्वयव्यतिरेक को स्वीकार करते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द का परिवर्तन कर दिये जाने पर जो दोष या अलंकार बना रहता है उस स्थिति में वह अर्थगत होगा । और यदि शब्द का परिवर्तन होने पर जिसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है उस स्थिति में वह शब्दगत माना जायेगा । इसे मम्मट ने शब्दपरिवृत्तिसहत्व तथा शब्दपरिवृत्त्यसहत्व कह कर विभाजन का आधार स्पष्ट कर दिया है ।

कविता से चमत्कार या आनन्द की अनुभूति या तो रस-भावादि के माध्यम से होती है या अलङ्कारों के माध्यम से । रसादिजन्य चमत्कार निश्चय ही आन्तरिक तो होता ही है, साथ ही उसमें स्थायित्व भी होता है । किन्तु अलंकारों से जो चमत्कार अनुभूत होता है वह प्रथम की अपेक्षा बाह्य और क्षणिक होता है । अलङ्कार या तो अतिशय या अतिरञ्जित उक्ति होते हैं या उनमें उक्ति की वक्रिमा होती है । यद्यपि अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति दोनों को अभिन्न रूप में माना गया है, तथापि दोनों में कुछ ध्यान देने पर

यत्किञ्चित् भेद की प्रतीति होती है, ऐसा भामह के काव्यालङ्कार के हिन्दी व्याख्याकार डा. देवेन्द्रनाथ शर्मा का विचार है ।

अलंकारों की संख्या को लेकर आचार्यों में से ऐकमत्य नहीं है । भरत ने केवल चार अलंकारों का उल्लेख किया । भामह ने इनकी संख्या 38 बताई और रुद्रट उन्हें 57 की संख्या तक पहुँचाया और मम्मट ने 61 अलंकारों का निरूपण किया । क्रमश ज्यों ज्यों उक्तिवैचित्र्य के प्रकारों की तलाश होती गयी अलंकारों की संख्या बढ़ती चली गयी । आनन्दवर्धन ने कहा भी है कि हजारों अन्य श्रेष्ठ जनों ने अलंकारों के अनेक प्रकारों की उद्भावना की है और कर रहे हैं ।

शब्दालंकार –

मम्मट ने वक्रोक्ति (2 प्रकार), अनुप्रास (5 प्रकार), यमक (अनेक प्रकार) श्लेष (8 प्रकार) तथा अभङ्ग (1 प्रकार), चित्रबन्ध (अनेक प्रकार) तथा पुनरक्तवदाभास नाम के शब्दालंकारों की गणना की है । पुनरुक्तवदाभास के शब्दगत और शब्दार्थगत दो भेद माने हैं ।

"वक्रोक्ति" जो सभी अलंकारों के मूल में होती है उसे विशिष्ट अर्थ के अनुसार शब्दालंकार के अन्तर्गत भी रखा है और उसी प्रकार अतिशयोक्ति को अर्थालकार के अन्तर्गत परिगणित किया है ।

मम्मट ने अनुप्रास के एक भेद वृत्त्यनुप्रास के अन्तर्गत उन तीन वृत्तियों उपनारिका, परुषा और कोमला को समेट लिया है जिन्हें वामन ने रीति के रूप में गणना की थी । उन्हें ही दण्डी और कुन्तक मार्ग तथा आनन्दवर्धन "सङ्घटना" कहते हैं ।

यमक के प्रति मम्मट का पक्षपात नही है, फिर भी उसके उन्होंने अनेक भेदो का निर्देश किया है । मम्मट यमक के भेदो को काव्य के आस्वाद में बाधक मानते हैं । आनन्दवर्धन ने भी यमक के प्रयोग में कवियो को सावधान किया है, क्योंकि वे उन्हीं अलंकारों को कविता के उपयोगी या शोभाधायक मानते हैं जिनके सन्निवेश में कवि को अलग से कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है किन्तु यमक जैसे कुछ अलंकारों के सन्निवेश में कवि को अवश्य ही पृथक् रूप

से यत्न करना पड़ता है । हां केवल उनके प्रयोग से वैचित्र्य मात्र की अनुभूति अवश्य होती है और, यही कारण है कि कालिदास जैसे रससिद्ध कवियों ने यमक के प्रयोग मे दिलचस्पी ली है । उन्होंने रघुवंश-महाकाव्य के पूरे नवम सर्ग में यमक का निर्वाह किया है । भारवि और माघ तो यमक के सिद्ध प्रयोक्ता माने ही जा सकते हैं ।

श्लेष के प्रकरण में मम्मट ने अन्वय-व्यतिरेक को, अर्थात् शब्दपरिवृत्ति-असहत्व को अलंकार आदि के शब्दगतत्व होने का निर्णय सिद्धान्त रूप में तो स्वीकार किया ही, साथ ही उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों की भ्रान्तियों का निराकरण भी किया है । मम्मट का स्पष्ट विचार है कि चूंकि वैचित्र्य वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति अलंकार है, और जो कवि की प्रतिभा के सरम्भ का विषय होता है वही विचित्रता होती है और वस्तुतः वहीं अलङ्कार की भूमि है । इसी वैचित्र्य को अलंकार से अलंकार का भेदक भी माना जाता है । इस वैचित्र्य की ही एक और संज्ञा "विच्छित्ति" भी है ।

चित्र नामक खड्गबन्ध आदि रूप रचनाओं को मम्मट ने 'कष्टकाव्य' कह कर उनके प्रति अपनी अरुचि व्यक्त की है । मम्मट के अनुसार उनमें कवि की मात्र शक्ति (सामर्थ्य) प्रतीत होती हैं, उनसे कोई लोकोत्तर चमत्कार की अनुभूति (हृदय को रमाने की सामर्थ्य) नहीं होती, अतः वे काव्य नहीं कहे जा सकते ।

पुनरुक्तवदाभास को शब्दगत और अर्थगत दोनो प्रकार का अलंकार स्वीकार करते हुए मम्मट ने शब्दालकार के प्रकरण को समाप्त किया है ।

अर्थालङ्कार —

रूय्यक ने "अलकारसर्वस्व" में रचनाशैली के आधार पर अलंकारों को सात वर्गों में विभक्त किया है और प्रथम वर्ग के भी 4 अवान्तर भेद किये हैं । उनके अनुसार :-

1. सादृश्यमूलक चार अलंकार हैं, (क) अभेदाभेदप्रधान—उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय और स्मरण (ख) आरोपमूलक अभेदप्रधान—

रूपक, परिणाम, ससन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, उपह्नुति; (ग) अध्यवसायमूलक अभेदप्रधान—उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति; (घ) गम्य औपम्याश्रित सादृश्यमूलक अलंकार— तुल्ययोगिता, पदार्थगत दीपक, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, वाक्यार्थगत-निदर्शना, व्यतिरेक, श्लेषप्रधान सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, विशेषणविच्छित्त्याश्रय-परिकर; (च) विशेष्यविच्छित्त्याश्रय-परिकराङ्कुर; (छ) विशेषण-विशेष्यविच्छित्त्याश्रय—श्लेष, अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप ।

2. विरोधमूलक अलंकार—विरोध (या विरोधाभास), विभावना, विशेषोक्ति, असङ्गति, विषम, सम, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, विशेष, व्याघात ।

3. शृङ्खलाबन्धमूलक अलंकार—कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार ।

4. तर्कन्यायमूलक अलंकार—काव्यलिङ्ग और अनुमान ।

5. वाक्यन्यायमूलक अलंकार—यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, समुच्चय, समाधि ।

6. लोकन्यायमूलक अलंकार—प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, सामान्य, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर ।

7. गूढार्थप्रतीतिमूलक अलंकार—सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, संसृष्टि, संकर ।

इनमें कुछ अलंकार काव्यप्रकाश में उक्त नहीं हैं, जैसे परिणाम, उल्लेख, परिकराङ्कुर, विचित्र, अर्थापत्ति और विकल्प ।

इस प्रकार अलंकारसर्वस्वकार द्वारा निर्दिष्ट 67 अलंकारों में मम्मट के 61 अलंकारों का समन्वय बन जाता है ।

मम्मट ने उपमा के अनेक भेदों का निरूपण किया है । कहते हैं कि व्याकरण को आश्रय बनाकर मम्मट ने जो उपमा के भेद किये हैं वे उनकी निजी कल्पना की उपज है । मम्मट ने मालोपना तथा रशनोपमा जैसे उपमा भेद नहीं माने, क्योंकि इस प्रकार के हजारों वैचित्र्य हो सकते हैं ।

मम्मट ने श्लिष्टपरम्परित रूपक को पुनरुक्तवदाभास की भांति शब्दार्थालंकार माना है तथापि प्रसिद्धि के अनुरोध से इसकी गणना

अर्थालंकारों में की है ।

परिकर अलंकार को मम्मट ने अपुष्टार्थ दोष के अभाव के रूप में न लेकर, अनेक साभिप्राय विशेषणों के प्रयोग मे वैचित्र्य को मानकर पृथक् अलंकार के रूप में प्रतिष्ठा दी है, किन्तु उद्भट आदि ने जिस "हेतु" अलंकार को स्वीकार किया था उसमें "आयुर्घृतम्" जैसे कथन की भाति किसी प्रकार के वैचित्र्य का अभाव मान कर उसे अस्वीकृत कर दिया ।

मम्मट की दृष्टि अलंकारों के स्वरूप तथा भेदों के निरूपण में भी सम्पूर्णतया जागरूक रही है । फलतः उन्होंने युक्ति को आधार मान कर विवेचन किया है । कही पूर्वाचार्यों के सम्मत अलंकारों को वैचित्र्य के अभाव के कारण निराकरण किया तो कहीं उनकी मान्यता को ही बदल कर अपने अनुसार विवेचन किया । जैसे व्यतिरेक को रुद्रट ने दोष और गुणों के आधार पर निर्दिष्ट किया है, किन्तु मम्मट ने उपमान से उपमेय के आधिक्य को व्यतिरेक माना । भामह ने अधिक गुणशाली की प्रशंसा और उसकी तुलना में प्रस्तुत की निन्दा फलतः प्रस्तुत की स्तुति को व्याजस्तुति माना है किन्तु मम्मट ने निन्दा से प्रशंसा और प्रशंसा से निन्दा व्यक्त होने पर व्याजस्तुति मानी है । विनोक्ति अलंकार तो मम्मट की अपनी सूझ है, क्योकि इसकी कल्पना उनके पूर्ववर्ती किसी अन्य ने नहीं की है । इसी प्रकार सामान्य और व्याघात अलंकार भी केवल मम्मट की देन हैं ।

अन्त में संसृष्टि और संकर के रूप में अलंकारों के निरूपण में भी अपने ढंग से मम्मट ने उनकी व्यवस्था की है । अन्त में उन्होंने अलंकार दोषों की चर्चा की है । काव्यप्रकाश के सप्तम में आये दोषों में ही उनकी गतार्थता हो जाती है । मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी अलंकार-दोषों की चर्चा की है ।

इस प्रकार काव्य-प्रकाश का सम्पूर्ण स्थापत्य मम्मट द्वारा निर्दिष्ट काव्य-लक्षण की नींव पर रचित है । सप्तम उल्लास में दोषों का निरूपण "अदोषौ" की व्याख्या के लिए प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि दोषो के अभाव को जानने के लिए दोषों को जानना आवश्यक है।

जाता है । दोषों के ज्ञान द्वारा ही उनका निराकरण सम्भव है ।

दोष निरूपण —

शब्द-अर्थ के शरीर वाले काव्य में गुणों का होना जितना आवश्यक है उतना ही अपरिहार्य है दोषों का न होना । तभी कोई भी काव्य अपना प्रभाव कायम रखता है । मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यो ने भी दोष-परिहार पर पर्याप्त ध्यान दिया था । भरत ने कहा है कि विकृत शब्दों के प्रयोग से ललित नाट्य प्रयोगों की शोभा नष्ट होती है (17/214) तथा अर्थहीन आदि दस दोष गिनाये हैं । भामह कहते हैं कि दोषयुक्त एक भी पद सर्वथा नहीं कहना चाहिए । कुपुत्र की भांति दोषयुक्त काव्य से कवि निन्दा का पात्र होता है । (का. 1/11) और दण्डी तो इतना कह जाते हैं कि काव्य में थोड़ा भी दुष्ट (दोषयुक्त) की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । सुन्दर शरीर भी एक भी कुष्ट के कारण असुन्दर हो जाता है । इसके ठीक विपरीत यदि कालिदास को इस प्रसंग में उद्घृत करें तो उनके अनुसार गुणों की अधिकता होने पर एक भी दोष चन्द्रमा के कलंक की भांति छिप जाता है-

"एकोऽपि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणोष्विवाङ्कः ।"
(कुमार01/3)

कविवर माघ तो यह मानते हैं कि यदि गुणहीन में किसी प्रकार का दोष न हो तो वह भी एक गुण ही है-"अपदोषतैव विगुणस्य गुणः ।" वामन ने दोषों को गुणों के विपरीत स्वरूप माना तथा उन्हें पदगत आदि विभागों में विभक्त करने की परम्परा डाली ।

मम्मट ने दोष के लक्षण मे उन्हें साक्षात् या परम्परा से रस को हानि पहुँचाने वाला बताया है । आनन्दवर्धन भी ऐसा ही विचार रखते हैं, क्योंकि इसी आधार पर दोषों के नित्यत्व और अनित्यत्व की व्यवस्था बन पाई है ।

मम्मट ने दोष-प्रकरण में भी विशिष्ट प्रतिभा का चमत्कार कम नहीं दिखाया है । वे यहां भी पूर्वाचार्यो की **अस्पष्ट सामग्री को**

बहुत कुछ स्पष्ट कर देते हैं । दोषों के स्वरूप निर्धारण, वर्गीकरण, परिहार अथवा अन्तर्भाव सर्वत्र उन्होंने अपने स्वतंत्र चिन्तन का उपयोग किया है । डा. जगदीशचन्द्रशास्त्री ने मम्मट के दोष प्रकरण के अवदानों को इस प्रकार गिनाया है—1. सर्वाधिक दोषों का विवेचन, 2. अन्वयव्यतिरेक के आधार पर वर्गीकरण, 3. बाईस दोषों का नया नामकरण, 4. अलंकार-दोषों का अन्तर्भाव द्वारा उन्मूलन, 5. दोष-परिहार के तत्त्वों का सूचित अनुगम, 6. दोष सामान्य लक्षण द्वारा रस का काव्य में सर्वोत्तम तत्त्व के रूप में ख्यापन, 7. सार्थक नामकरण, 8. अनावश्यक एवं निराधार दोषों का संवरण तथा 9. पदांशवर्ग एवं रसवर्ग का स्थिरीकरण ।

चतुर्थ अध्याय

मम्मट : एक मूल्याङ्कन

काव्यप्रकाश की रचना द्वारा मम्मट ने पूर्ववर्ती आलङ्कारिको की रचनाओ का एक सुनियोजित एव अन्तःप्रवेश पूर्वक अपने अध्ययन को प्रमाणित ही नही किया है, अपितु उन्होंने अपने पूर्व की व्याकीर्ण विचार-धाराओं को एक समुचित व्यवस्था दी और मुख्य धारा को तीव्र करने में सबसे बड़ा योगदान किया है । उन्होने एक तो सूत्रशैली अपनायी और दूसरे व्याकीर्ण विषयो को सम्बद्ध रूप मे रखा । अपने पूर्व, भरतमुनि से भोजराज तक के लगभग 1200 सौ वर्षो की सामग्री का आकलन किया और मधुमक्षिका की भांति सबसे सार एकत्र किया । अथवा यह कहे, कि एक ऐसी सुन्दर माला पिरोई जिसमे सभी फूलो को समुचित स्थान मिला । निश्चय ही मम्मट ने सिद्धान्ततः आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त का अनुगमन किया, फिर भी जहाँ कहीं भी अवसर मिला, ध्वनिकार और लोचनकार की अस्पष्ट बातों को स्पष्ट और पुष्ट भी करने का सफल प्रयास किया । मम्मट की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होने काव्यशास्त्रीय चिन्तन को सच्चे अर्थ मे शास्त्र की मर्यादा और गरिमा प्रदान की । इसके लिए उन्हें मीमांसकों तथा अन्य शास्त्रकारों से जूझना भी पड़ा । कहते हैं कि ध्वनि के जिस महाप्रासाद को आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने खड़ा किया था उसे विरोधियों द्वारा ध्वस्त होने से बचाने का काम मम्मट ने किया । वस्तुतः ध्वनि के विरोधियों ने उसे ध्वस्त तो नही किन्तु शिथिल अवश्य कर दिया था और तब मम्मट ने अपनी प्रतिभा के बल भर उसे न केवल ध्वस्त होने से बचाया, प्रत्युत मजबूत भी किया । उसका फल यह हुआ कि अनेक

विचार उसी महाप्रासाद के आश्रय में फले और फूले । काव्यप्रकाश अपने स्वरूप मे एक सामान्य काव्यशास्त्र का ग्रन्थ नहीं रह गया, बल्कि वह अपने आपमें प्रकाशस्तम्भ का काम करने लगा ।

यद्यपि यह बात बगाल के कुछ टीकाकारों ने कही थी कि काव्यप्रकाश की कारिकाएँ भरत (नाट्यशास्त्रकार) की रचना हैं, तथापि उनकी यह बात पुष्ट प्रमाण के अभाव मे नहीं मानी गयी । मम्मट ने काव्यप्रकाश मे भरत की कुछ कारिकाओ को मूल रूप मे ही ले लिया है, जैसे रसों की तथा स्थायीभावो की गणना वाली कारिकाएँ तथा व्यभिचारी भावो की सूची (केवल अन्तिम पक्ति "प्रयान्ति रसरूपता" के स्थान पर "समाख्यातास्तु नामतः" कह कर वदल दिया । यदि उन्होने भरत की कारिकाओ को सम्पूर्णतया लिया होता तो भरत के रस-सूत्र को उद्धृत करते हुए वे "तदुक्तं हि भरतेन" यह नहीं लिखते ।

मम्मट ने भरत के नाट्यशास्त्र का आकलन करके उसके मुख्य प्रतिपाद्य रस को काव्य के मुख्य तत्त्व (आत्मभूत) रूप मे माना और रस-सूत्र के चार व्याख्याताओ (भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त) के विचारों को वड़े स्पष्ट रूप मे उद्धृत किया और साथ ही, अपनी सांकेतिक शैली मे "श्रीमदाचार्याभिनवगुप्त-पादानाम्" लिखकर आ. अभिनव के व्याख्यान के प्रति अपनी सम्मति प्रकट की । वस्तुतः भरत के रस तत्त्व की आगे के आलङ्कारिको ने बड़ी उपेक्षा कर दी थी । भामह, दण्डी आदि ने उसे रसवद् अलकारो के रूप मे परिगणित करके एक सामान्य अलकार का दर्जा दे डाला और वामन ने "रीति" के प्रति अपने आग्रह के कारण उसकी उपेक्षा की । आनन्दवर्धन और अभिनव ने उसकी सम्पुष्टि की । मम्मट ने इन दोनो आचार्यो के विचारों का अनुगमन किया और ध्वनि एव व्यजना के आधार को और मजबूत करते हुए रस के आत्मत्व को पुनः स्थापित किया ।

भरत ने नाट्यपरम्परा को मूलतः स्थापित किया जो दृश्य काव्य (रूपकों) का मूल थी । काव्य (श्रव्य) के लिए उनके यहाँ उपेक्षा ही थी । किन्तु आचार्य भामह ने काव्यालङ्कार द्वारा श्रव्य-काव्य

को केन्द्र में रख कर अपने विचार प्रकट किये और भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तनधारा को एक प्रबल मोड़ दी । मम्मट ने उसी धारा को आत्मसात् तो किया ही उसे और भी गतिशीलता प्रदान की ।

भामह् के अनेक विचार मम्मट ने बिना किसी झिझक के स्वीकार किये । एक तो उन्होंने "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" के आधार पर काव्य को शब्द-अर्थ रूप माना, जब कि किसी ने उसे शब्द मात्र रूप और तो किसी ने अर्थमात्र रूप माना । मम्मट ने भामह् की दो कारिकाओं (1/13,14) को काव्यप्रकाश के षष्ठ उल्लास मे ससम्मान उद्धृत किया है । काव्य के प्रयोजनो में भामह् के द्वारा प्रयोजनो मे दो निर्दिष्ट ("कीर्ति" और "प्रीति" या आनन्द) को माना और काव्य के तीन हेतुओं-प्रतिभा (शक्ति) व्युत्पत्ति और अभ्यास को समुदित (सम्मिलित) रूप मे माना । भामह् के इस विचार को कि वक्रोक्ति समस्त अलंकार का मूल है, आचार्य मम्मट ने अपने अनेक पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों की भाति मुक्त कण्ठ से "विशेष" अलकार के प्रसङ्ग मे यह कह कर स्वीकार किया-"सर्वत्र एव-विधविपयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालङ्का-रत्वायोगात् ।" अतिशयोक्ति को वक्रोक्ति से अभिन्न रूप में माना गया है । भामह् के आधार पर ही मम्मट ने "हेतु" को अलकार के रूप मे स्वीकार नहीं किया ।

वामन की मम्मट ने तीव्र आलोचा की । एक तो वामन के अनुसार गुणो के दस शब्दगत तथा दस अर्थगत भेदों को स्वीकार नही किया और आनन्दवर्धन की भाति केवल तीन गुणों (माधुर्य, ओजस् और प्रसाद) को माना और कुछ गुणों को इन तीनों मे अन्तर्भूत कर दिया, कुछ को दोषाभाव रूप माना और कुछ को दोष रूप कह कर हटा दिया । साथ ही, वामन ने "रीति" को काव्य की आत्मा मानकर वैदर्भी, गौड़ी तथा पाञ्चाली को काव्य मे प्रमुख स्थान दिलाया । उन्हें मम्मट ने वृत्त्यनुप्रास-अलंकार के अन्तर्गत उपनागिरका, परुषा और कोमला वृत्तियों के रूप में माना ।

मम्मट निश्चित रूप से आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के अनुगत

है । उन्होने ध्वनिवाद के विरोधी सिद्धान्तो को प्रबल तर्कों के आधार पर खण्डित किया और व्यजना को प्रतिष्ठित होने में पूरा सहयोग किया ।

निश्चय ही काव्यप्रकाश मे मम्मट ने काव्य की विधाओ (महाकाव्य आदि) की चर्चा को प्रश्रय नहीं दिया । इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होने उन्हें नही माना । किन्तु इस चर्चा को उन्होने पूर्वाचार्यों के कथनों द्वारा सिद्ध माना और चर्वितचर्वण मान कर उस चर्चा से अलग हो गये ।

मम्मट के परवर्ती आलङ्कारिको ने अधिकाश मम्मट के विचारो को दुहराया और रसतत्त्व को काव्य के प्राणभूत तत्त्व के रूप मे स्वीकार कर लिया । यद्यपि साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ और रसगङ्गाधरकार पण्डितराज मम्मट के काव्य-लक्षण तथा काव्य-हेतु सम्बन्धी विचारो से सहमत नही थे, तथापि मम्मट के प्रति उनके मन में प्रतिष्ठा कम न थी । पण्डितराज तो उन्हे "सहृदयशिरोमणि" भी कह कर प्रतिष्ठा देते है । वस्तुतः रसगगाधर के अलंकार-निरूपण प्रकरण के आकलन द्वारा ऐसा लगता है कि यह सम्पूर्ण काव्यप्रकाश के अलकार-प्रकरण का विस्तृत एवं ओजस्वी व्याख्यान ही है ।

यदि यह कोई प्रश्न करे, कि "काव्यप्रकाश" अगर निर्मित नही होता तो भारतीय काव्यशास्त्र मे क्या कमी रह जाती तो इसके उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि काव्यप्रकाश के अभाव मे आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिष्ठापित होने पर भी ध्वनिसिद्धान्त अनेक आलकारिको के प्रबल प्रतिरोध के कारण धराशायी हो जाता और दूसरे, अन्य काव्य तत्त्व बहुत कुछ अपना काव्य में समुचित स्थान न पा सकने के कारण अस्पष्ट ही रह जाते । और यह भी बात है कि काव्यप्रकाश पर निर्मित टीकासाहित्य अपने आप में एक भारतीय काव्यशास्त्र की महती उपलब्धि है, जिसको कोई अमान्य नहीं कर सकता । इस प्रसंग मे 'रससिद्धान्त' नामक ग्रन्थ में डा. नगेन्द्र की ये पंक्तियां उद्धरणीय है—"मम्मट का स्पष्ट उद्देश्य काव्यशास्त्र की रचना करना था, अतः उनकी दृष्टि काव्य के विवेचन पर ही केन्द्रित रही-दर्शन का उपयोग भी उन्होंने यथास्थान किया है किन्तु उसकी सूक्ष्मताओ मे नही

उलझे । फलतः उनके ग्रन्थ में कोई विशेष मौलिक स्थापना नही । उन्होने अपने ढंग से, स्वच्छता के साथ किन्तु सक्षेप मे दार्शनिक जटिलताओ को बचा कर अभिनव के मत के प्रकाश मे रसनिष्पत्ति का आख्यान मात्र कर दिया है" (पृ. 179) ।

मम्मट कश्मीर के निवासी थे । उन्होने कश्मीर शैवदर्शन के एक ओजस्वी आधार-स्तम्भ आचार्य अभिनवगुप्त का सिद्धान्ततः अनुगमन भी किया, किन्तु हम देखते हैं कि अभिनवगुप्त ने जिस प्रकार कश्मीर के शैवाद्वैत से अपने साहित्य सिद्धान्त को प्रभावित करने का प्रयास किया, मम्मट उससे सर्वथा मुक्त रहे । यद्यपि काव्यप्रकाश के एक परवर्ती व्याख्याता, राजानक आनन्द ने अपनी जो व्याख्या "निदर्शन" या "शितिकण्ठविबोधन" नाम से लिखी उसमे मम्मट को शैवागम में दीक्षित "देशिकवर" के रूप मे निर्दिष्ट किया है, तथापि मम्मट को हम कही पर भी अभिनवगुप्त की भाति कश्मीरी शैवदर्शन के सिद्धान्तो को लक्षित करते हुए नही पाते । यह तो मम्मट के बाद पण्डितराज ने रससिद्धान्त को शाकर अद्वैत वेदान्त से जोड़ने का एक प्रयास मात्र किया था, ऐसा लगता है । वस्तुतः मम्मट की चेतना मे साहित्य अपने सम्पूर्ण अर्थ मे स्वतत्र था । कुछ लोगो ने मम्मट को उनके अनेक उद्धरणो द्वारा मुख्यतः "वैयाकरण" प्रमाणित करने का प्रयास किया था किन्तु साहित्यशास्त्र के स्वतत्र व्याख्याता के रूप मे ही उन्हें देखना ही उनके साथ न्याय होगा । ध्वनि-सिद्धान्त को मूलतः वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त के ऋणी होने की बात तो मम्मट के मार्गदर्शी आनन्दवर्धन ने ही स्वीकार कर ली थी ।

साहित्य को एक शास्त्र की सम्पूर्ण प्रतिष्ठा या मर्यादा देने का जो काम मम्मट द्वारा किया गया उससे ही मम्मट की गरिमा अधिक बढ़ी है । यही कारण है कि मम्मट की इस गम्भीर रचना को समझने और समझाने के लिए शास्त्रमर्मज्ञ टीकाकारो की एक परम्परा चल पडी । तब भी जैसा कि माना गया है काव्यप्रकाश "दुर्गम" बना हुआ है । यहाँ तक कि सम्राट अकबर द्वारा सम्मानित एक जैन आचार्य सिद्धिचन्द्र गणि ने काव्यप्रकाश के खण्डन के उद्देश्य से "विवृति" लिखी, किन्तु मम्मट की प्रतिष्ठा पर किसी प्रकार की आच नही आयी ।

पञ्चम अध्याय

मम्मट की शैली और अवदान

मम्मट को किसी नये काव्य-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक के रूप में नहीं माना जाता, और न उन्होंने ऐसा कोई प्रयास भी किया। किन्तु उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन भारतीय काव्यशास्त्र को यह थी कि शताब्दियों से चली आ रही विभिन्न काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियों का प्रभावशाली निराकरण किया और इस प्रकार काव्यशास्त्र की धारा को अपनी मेधा से निर्मल ही नहीं किया, वरन् उसे एक तीव्र गति प्रदान की।

मम्मट की शैली नितान्त संक्षिप्त एवं सूत्र रूप है। इस कारण उसमें पर्याप्त गम्भीरता आ गयी है। यहाँ तक कि वे अपनी कारिका में आयी बात को भ्रान्ति के निवारणार्थ स्पष्ट करने का प्रयास भी करते हैं। जैसे "काव्यलक्षण" में उन्होंने "अनलंकृती पुनः क्वापि" को स्पष्ट करने के लिए लिखा—"क्वापीत्यनेनैतदाह, क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः"।

मम्मट के मन मे जिस किसी प्राचीन विचार या सिद्धान्त के प्रति आस्था होती है उसके प्रवर्तक के सम्बन्ध में आदरार्थक बहुवचन का प्रयोग कर देते हैं, जिससे उनकी वह आस्था सहज प्रकट हो जाती है। ऐसा उन्होंने दो बार किया। एक तो तब जब उन्होंने (द्वितीय उल्लास में) अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद की चर्चा करते हुए "इत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्" और "इत्यन्विताभिधानवादिनः" द्वारा क्रमशः बहुवचन और एकवचन का प्रयोग किया। और, दूसरे, तब जब उन्होंने रसों के चतुर्विध व्याख्यानों (चतुर्थ उल्लास) के प्रसंग में, अभिनवगुप्त के प्रति अपनी विशेष श्रद्धा व्यक्त करते हुए उनके नाम का इस प्रकार उल्लेख किया—"इति

श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः" ।

वे अपने ग्रन्थ को अनावश्यक विस्तार से बचाना चाहते हैं । उसका तात्पर्य यह था कि मम्मट उन ग्रन्थकारों में नहीं थे, जो केवल अपने वैदुष्य के ख्यापन के लिए ग्रन्थ की रचना करते हैं । उनका मात्र उद्देश्य था भ्रान्तियों का निवारण करना और स्वस्थ एवं स्फीत विचार को स्थापित करना, जिसमे वे पर्याप्त सफल रहे । यही कारण था कि उन्होंने द्वितीय उल्लास मे संकेतित अर्थ के विषय में चर्चा करते हुए नैयायिको तथा बौद्धों के विचार की चर्चा ग्रन्थगौरव तथा प्रकृत में अनुपयोगी (अप्रासंगिक) बताते हुए छोड़ दी—"तद्वानपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति ग्रन्थ-गौरवभयात् प्रकृतानुपयोगाच्च न दर्शितम् ।"

मम्मट की शैली की गम्भीरता की तुलना यदि कुछ अंश में महाभाष्यकार पतञ्जलि और वेदान्तसूत्रो के भाष्यकार आद्य शङ्कराचार्य की गम्भीरता से की जाय तो कुछ अनुचित नहीं होगा । इसी कारण उनके द्वारा प्रस्तुत अनेक प्रकरणों को खोलने मे अनेक मेधावी टीकाकारों को परस्पर जूझना पड़ा है । मम्मट का विभिन्न शास्त्रों का ज्ञान बड़ा व्यापक एवं गम्भीर था । इस कारण उनकी गम्भीरता असामान्य हो गई है । जहाँ, द्वितीय उल्लास में उन्होंने "ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्" कह कर वृत्ति मे लिखा "प्रत्यक्षादेर्नीलादिर्विषयः फलं तु प्रकटता संवित्तिर्वा" वहाँ उनके शास्त्रज्ञान की गरिमा उजागर हो उठी है । काव्यप्रकाश में ऐसे प्रसंगो को प्रायः सर्वत्र ढूढ़ा जा सकता है ।

मम्मट काव्य के मर्मज्ञ या पण्डितराज के शब्दों में "व्युत्पन्नशिरोमणि" या "सहृदयशिरोमणि" अवश्य थे, किन्तु उन्होंने अपनी कवित्वशक्ति का परिचय बिलकुल नहीं दिया । उनके द्वारा प्रस्तुत मङ्गलाचरण के पद्य के आकलन से उनकी कवित्वशक्ति का भी कुछ अवश्य परिचय मिल जाता है, किन्तु वह इतना स्वल्प है कि इससे सन्तोष नहीं होता । वस्तुतः मम्मट ने अपनी काव्यों के विषय में जो मार्मिकता उदाहरणों के चयन में तथा अपनी टिप्पणियो द्वारा व्यक्त की है वह अनुपम है । डा. जगदीशचन्द्र शास्त्री ने अपने

ग्रन्थ 'ध्वनिप्रस्थान में आचार्य मम्मट के अवदान' मे मम्मट के अवदानो की एक लम्बी सूची दी है । प्रसंगतः हमने उनकी चर्चा की है । काव्यप्रकाश के हिन्दी व्याख्याकार स्व. आचार्य विश्वेश्वर ने काव्यप्रकाश को अधिक गौरव एवं आदर प्राप्त कराने वाले कारणो को इन चार भागो में विभक्त करते हुए लिखा है—

1. काव्यप्रकाशकार ने साहित्यशास्त्र के एक सहस्रवर्ष के लगभग समस्त आचार्यों की कृतियों का अवगाहन और मनन करके उनके सर्वोत्तम सारभाग का संग्रह कर अपने इस ग्रन्थ में उपस्थित करने का यत्न किया है और अपने उस प्रयत्न में उन्होंने यथेष्ट सफलता प्राप्त की है ।

2. पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में विषय प्रतिपादन की दृष्टि से जो न्यूनता या त्रुटिया रह गयी थीं उन सबको हृदयंगम करके मम्मट ने अपने ग्रन्थ मे उन सबको दूर कर विषय की दृष्टि से ग्रन्थ को सर्वाङ्गसुन्दर एवं परिपूर्ण बनाने का यत्न किया है और उस यत्न मे पूर्ण सफलता प्राप्त की है ।

3. मम्मट ने साहित्यशास्त्र के शक्ति, ध्वनि, रस, गुण, दोष, अलंकार आदि समग्र आवश्यक तत्त्वो का यथार्थ मूल्याङ्कन किया है और उसके अनुसार उनको अपने ग्रन्थ मे स्थान दिया है ।

4. सक्षिप्त सूत्रशैली का अवलम्बन कर परिमित शब्दों मे अधिक से अधिक विषय प्रस्तुत करने का यत्न किया है ।

यद्यपि मम्मट साहित्यशास्त्र के किसी सिद्धान्त-विशेष के प्रवर्तक नहीं थे, तथापि उन्हें वही प्रतिष्ठा दी जाती है जो किसी सिद्धान्त विशेष के प्रवर्तक "आचार्य" को दी जाती है । हम तो विनम्रतापूर्वक यह कहना चाहेंगे कि मम्मट का महत्त्व कुछ ऐसे सिद्धान्त-प्रवर्तक आचार्यो से कम नहीं है । अतः सम्पूर्ण अर्थ में वे एक "आचार्य" थे । यदि उन्हें एक टीकाकार ने "वाग्देवतावतार" का विशेषण देकर सम्मानित किया है तो उसमें कोई अत्युक्ति प्रतीत नहीं होती ।

परिशिष्ट

काव्यप्रकाश की टीकाएं और टीकाकार

जैसा कि हम संकेत कर चुके हैं काव्यप्रकाशकार मम्मट का समय ग्यारहवीं शताब्दी ईस्वी का उत्तरार्ध माना गया है तथा काव्यप्रकाश की रचना भी इसी काल में हुई है, और तुरंत बाद, बारहवी ईस्वी शती के आरम्भ से ही इस महान् ग्रन्थ पर टीकाएं लिखी जाने लगीं, और उनका क्रम कई शताब्दियों तक चला। म. म. काणे का कहना है कि भगवद्गीता को छोड़ संस्कृत में दूसरी ऐसी कोई रचना नही जिस पर इतनी टीकाएं लिखी गयी हों। इसे काव्यप्रकाश की दुरूहता का ही प्रमाण माना जा सकता है क्योंकि "भावार्थचिन्तामणि" नाम की टीका के लेखक महेश्वर के अनुसार काव्यप्रकाश की टीकाएं घर घर में की गयीं, तथापि यह उसी प्रकार दुर्गम (दुर्बोध) बना हुआ है—

"काव्यप्रकाशस्य कृत्ता गृहे गृहे टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः।"

इस प्रकार काव्यप्रकाश ऐसा एक निकष (कसौटी) था, जिसके आधार पर परवर्ती विद्वानों ने अपने वैदुष्य को कसने (प्रमाणित करने) के लिए टीकाएं लिखीं। इस ग्रन्थ की टीकाओं के कर्ता के रूप में काव्यप्रदीप के लेखक गोविन्दठक्कुर जैसे महाविद्वान्, प्रदीप पर "उद्योत" लिखने वाले नागेश भट्ट जैसे धुरन्धर वैयाकरण, कमलाकर भट्ट जैसे मीमांसक और गोकुलनाथ उपाध्याय जैसे प्रकाण्ड नैयायिक हुए। मम्मट को "वाग्देवतावतार" कहने की सार्थकता उनके काव्यप्रकाश पर लिखित "टीकासाहित्य" के आकलन से और भी प्रमाणित हो जाती है।

हम यहाँ काव्यप्रकाश की कुछ प्रमुख टीकाओं तथा टीकाकारों

की ही चर्चा करेंगे ।

1. संकेत (माणिक्यचन्द्र)-

इस टीका को काव्यप्रकाश पर लिखित सभी टीकाओं में प्राचीनतम माना जाता है । इसकी रचना 1159-70 ई. मे हुई । माणिक्यचन्द्र जैन थे तथा नेमिचन्द्र और सागरचन्द्र मुनि के शिष्य थे । "संकेत" में काव्यप्रकाश की किसी टीका का निर्देश नहीं है और मम्मट के सबसे निकट पूर्ववर्ती ग्रंथकार भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण और मुकुल भट्ट की अभिधावृत्तिमातृका का उल्लेख है । इस आधार पर माणिक्यचन्द्र की संकेत टीका को प्रथम टीका के रूप में माना जाता है । संकेत का प्रकाशन प्रथम बार आनन्दाश्रम सीरीज पूना से हुआ था । बाद में प्राच्यविद्या संशोधनालय, मैसूर से हुआ है।

2. "संकेत" (रुचक)-

कश्मीरवासी राजानक रुचक के नाम से एक दूसरी टीका संकेत मिलती है । अनुमान के आधार पर रुचक का समय 1135-60 ई. माना गया है । कुछ विद्वान् रुचक को "अलंकारसर्वस्व" के रचयिता रुय्यक से अभिन्न मानते हैं, क्योंकि "अलंकारसर्वस्व" के टीकाकार जयरथ ने उपसंहार में "राजानकरुय्यकस्य राजानकरुचकापरनाम्नोऽलंकारसर्वस्वकृतः" इत्यादि लिखा है । रुय्यक के दूसरे ग्रन्थ "सहृदयलीला" की पुष्पिका के आधार पर भी दोनों को अभिन्न समझा गया है, किन्तु कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि रुय्यक (अलंकारसर्वस्व के रचयिता) मम्मट के पूर्ववर्ती हैं, क्योंकि मम्मट ने शब्दश्लेष के निरूपण (नवम उल्लास) में, दशम उल्लास मे शब्दालंकारसंकर के तथा व्यतिरेक-अलंकार के निरूपण में रुय्यक के विचारों का प्रत्याख्यान किया है । इस स्थिति में दोनों (रुय्यक और रुचक) एक नहीं हो सकते । किसी पुष्ट प्रमाण के अभाव में इस प्रश्न को तत्काल सर्वथा असमाहित ही समझा जाना चाहिए । हालांकि संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में म. म. काणे पूर्वमत के पक्ष में हैं ।

रुचक की इस टीका से काव्यप्रकाश के दो ग्रन्थकारों (मम्मट और अलक) द्वारा रचित होने का संकेत मिलता है । इस टीका

का प्रकाशन प्रथम बार कलकत्ता ओरियण्टल जर्नल (1934-35) में पं. शिवप्रसाद भट्टाचार्य द्वारा तथा दूसरी बार डां. आर. सी. द्विवेदी द्वारा काव्यप्रकाश के अंग्रेजी अनुवाद "पोयटिक लाइट" भाग-2 के परिशिष्ट में (1970 ई. में) मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली से हुआ है ।

3. "काव्यादर्श संकेत" (सोमेश्वर भट्ट)-

सोमेश्वर भट्ट भरद्वाजवंशीय देवक के पुत्र थे । वामनाचार्य झलकीकर ने इन्हें कान्यकुब्ज का निवासी माना है । इनके समय को अनुमानतः 1225 ई. माना गया है । म. म. काणे के अनुसार, भाउ दाजी के संग्रह से इसकी पाण्डुलिपि मिली है, जिसके अन्त में कहा है कि संवत् 1283 में लिखित पाण्डुलिपि से उतारी गयी है । काणे महाशय निश्चयपूर्वक इसे 1125 ई. से पूर्व की मानते हैं । इसका प्रकाशन 1959 ई. में राजस्थान प्राच्यविद्या संस्थान, जोधपुर से प्रा. रसिकलाल छोटालाल पारीख के सम्पादकत्व में हुआ है । प्रा. पारीख ने सोमेश्वर को रुचक से प्रभावित माना है ।

4. बालचित्तानुरञ्जनी (नरहरि, सरस्वतीतीर्थ)-

टीका के आरम्भ में सरस्वती तीर्थ ने अपना परिचय स्वयं दिया है । वे आन्ध्रप्रदेश में "त्रिभुवनगिरि" नाम के नगर के वासी तथा वत्सगोत्र में उत्पन्न थे । इनके पिता का नाम मल्लिनाथ (रघुवंश आदि के टीकाकार मल्लिनाथ से भिन्न) और माता का नाम नागम्मा था । इनके दो पुत्र हुए—नारायण और नरहरि । नारायण के पास विद्या और लक्ष्मी दोनों का प्राचुर्य था । नरहरि का जन्म वि.सं. 1298, तदनुसार 1241-42ई. में हुआ । इनके पिता ने सोमयाग किया था । नरहरि ने काशी जाकर विद्याध्ययन किया और वहीं संन्यास ग्रहण कर लिया । उस आश्रम में इनका नाम "सरस्वती तीर्थ" हो गया । उन्हीं दिनों इन्होंने काव्यप्रकाश की टीका लिखी । इन्होंने "स्मृतिदर्पण" और "तर्करत्न" तथा उस पर "दीपिका" टीका भी लिखी ।

इस टीका में भी काव्यप्रकाश की किसी अन्य टीका का उल्लेख नहीं है ।आठवें उल्लास में केवल लिखते हैं—

"राजा भोजो गुणानाह विंशतिं चतुरश्च यान् ।
वामनो दश तान् वाग्मी भट्टस्त्रीनेव भामहः ।।"

यह टीका सम्पूर्ण रूप में प्रयाग स्थित गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ से प्रकाशित है ।

5. दीपिका अथवा जयन्ती (जयन्त भट्ट)-

ये गुजरात के शासक श्रीसारङ्गदेव कल्याण विजय 1277-1297 ई. के महामात्य पुरोहित श्री भरद्वाज भट्ट के पुत्र थे । अपनी टीका में ये मुकुल भट्ट का नामोल्लेख करते हैं । यह टीका जयन्त भट्ट ने संवत् 1350 (1294) में लिखी । इस टीका द्वारा समस्त सुधीजनों के अज्ञान-अन्धकार को दूर करना उनका उद्देश्य था । पिता की भांति ये भी अपने आश्रयदाता के पुरोहित थे । काव्यप्रकाश के टीकाकारों, परमानन्द चक्रवर्ती तथा रत्नकण्ठ ने अपनी टीकाओं में इनका उल्लेख किया है । इस टीका का संक्षिप्त सार भाण्डारकर की रिपोर्ट (1883-84) के परिशिष्ट पृ. 326 पर प्राप्त है ।

6. "विवेक" (श्रीधर)-

श्रीधर मैथिल थे । ये तेरहवीं शती ईस्वी के प्रथम चरण में विद्यमान थे । ये तिरहुत (तीरभुक्ति) के शासक शिव सिह देव के सान्धिविग्रहिक थे । चण्डीदास ने दीपिका में तथा विश्वनाथ ने "दर्पण" में इनका उल्लेख किया है । यह चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी से प्रकाशित है ।

7. "दीपिका" (चण्डीदास)-

कलकत्ता स्थित रायल एशियाटिक सोसाइटी की पाण्डुलिपि की पुष्पिका के अनुसार चण्डीदास कापिञ्जल वंश में उत्पन्न थे । साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ इसी कुल में उत्पन्न थे । विश्वनाथ ने चण्डीदास के पितामह नारायण का उल्लेख सा. द. में किया है । इस प्रकार चण्डीदास विश्वनाथ के प्रपितामह के अनुज के पुत्र थे । डा. डे के अनुसार इन्होंने अपने मित्र लक्ष्मण भट्ट के अनुरोध पर "दीपिका" का निर्माण किया । इन्होंने "ध्वनिसिद्धान्त-संग्रह" की भी रचना की है । काणे महोदय ने इनका समय 1300 ई. के आसपास या पहले बताया है ।

इस टीका का प्रकाशन पं. शिवप्रसाद भट्टाचार्य के सम्पादकत्व में, सरस्वती भवन सीरीज से 1938 ई. में हुआ है ।

चण्डीदास ने गलत सम्प्रदायों की व्याख्याओं के झंझावात में व्याकुल शाखाओं वाले काव्यप्रकाश रूपी वृक्ष को पुनः सिक्त एवं पल्लवित करने के लिए "दीपिका" की रचना की, ऐसा स्वयं निर्देश किया है ।

8. *"साहित्यचूडामणि" (लौहित्य भट्ट गोपाल सूरि)-*

गोपाल सूरि भानुदत्त की रसमञ्जरी की "रसिकरञ्जनी" टीका के लेखक हरिवंश भट्ट के पुत्र थे । इन्होंने रुद्रभट्ट के "शृङ्गारतिलक" की "रसतरङ्गिणी" नाम की टीका भी लिखी है । ये द्रविड ब्राह्मण थे । वामन के काव्यालंकारसूत्र की गोपेन्द्र तिप्पभूपाल (1428-46 ई.) द्वारा लिखित "कामधेनु" टीका में इनका कई बार उल्लेख मिलता है । म. म. काणे ने इनका समय 1750 ई. के लगभग माना है ।

एक अन्य मान्यता के अनुसार भट्ट गोपाल "भावप्रकाशन" के लेखक शारदातनय के पिता थे ।

इस टीका का प्रकाशन दो खण्डों में आर. हरिहर शास्त्री तथा के. साम्ब सदाशिवशास्त्री द्वारा त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज से 1926 तथा 1930 ई. में हुआ है ।

9. **"काव्यप्रकाशदर्पण" (विश्वनाथ कविराज)-**

उड़ीसा के महाकवि चन्द्रशेखर के पुत्र विश्वनाथ ने "साहित्यदर्पण" की रचना द्वारा साहित्य जगत् में विशेष प्रसिद्धि पायी । काव्यप्रकाश के व्याख्याकार चण्डीदास इनके प्रपितामह के अनुज थे । विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश की इस व्याख्या में जिन व्याख्याकारों का उल्लेख किया है, वे है—वाचस्पति मिश्र (1200 ई.), श्रीधर सांधिविग्रहिक (1225 ई. अनुमानतः) और चण्डीदास (1300 ई.) । *यहां चण्डीदास को प्रपितामह का अनुज न कह कर* पितामह का अनुज कहा है । विश्वनाथ की रचनाओं में प्रभावतीपरिणय और चन्द्रकला नाटिका भी हैं । ये अलाउद्दीन **खिलजी** 1361 ई. के समसामायिक थे । तथा इन्होने साहित्यदर्पण

में जयन्त भट्ट 1294 ई.) का स्मरण किया है । इनका समय 1300 ई. से 1350 ई. के बीच माना जाता है ।

इस टीका का प्रकाशन प्रथम बार अंशतः प्रकाशन गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ (प्रयाग) से हुआ, बाद में सम्पूर्ण टीका मात्र वहीं के डा. गोपराजु रामा ने 1979 ई. में सम्पादित की है ।

10. "सम्प्रदायप्रकाशिनी" (श्रीविद्याचक्रवर्ती)-

श्रीविद्याचक्रवर्ती दक्षिण भारत के शैव थे । इन्होंने रुय्यक के "अलंकारसर्वस्व" की "सञ्जीवनी" व्याख्या लिखी । इसके अतिरिक्त काव्यप्रकाश पर इनकी लघु टीका भी है । इनका समय 14वीं शती ई. के अन्त से पूर्व निश्चित किया गया है । इस टीका का प्रकाशन त्रिवेन्द्रम सीरीज में भट्ट गोपाल की टीका से साथ हुआ है । डा. रामचन्द्र द्विवेदी ने दो भागों में रुय्यक के संकेत के साथ मोतीलाल बनारसीदास (दिल्ली) से इसे प्रकाशित किया है ।

11. "विस्तारिका" (परमानन्द चक्रवर्ती भट्टाचार्य)-

विस्तारिका में सुबुद्धिमिश्र, जयन्तभट्ट तथा विश्वनाथ का उल्लेख है और प्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर इनका उल्लेख करते हैं । म. म. काणे ने इनका समय 1400-1500 के बीच माना है । ये बङ्गवासी, तथा नैयायिक थे । इन्होंने गङ्गेशोपाध्याय की "चिन्तामणि" पर "चक्रवर्तिलक्षणम्" नाम से लक्षणगादाधरी ग्रन्थ लिखा । कहते हैं कि इन्होने "नैषध" पर भी एक टीका लिखी है । "विस्तारिका" का प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से पं. गौरीनाथ शास्त्री के सम्पादकत्व में हुआ है ।

12. "सारसमुच्चय" (राजानक आनन्द)-

जैसा कि नाम से स्पष्ट है, राजानक आनन्द कश्मीरवासी तथा शैव थे । इस टीका का नाम "निदर्शना" भी है । ये मम्मट को शैवागम सम्प्रदाय के आचार्य के रूप में स्मरण करते हैं । मम्मट के परिचय में हम इस सम्बन्ध में लिख चुके हैं । यह टीका अब तक प्रकाशित नहीं है । अष्टम उल्लास तक यह लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली में प्राप्त है । इन्होंने "विस्तारिका" का उल्लेख किया है । म. म. काणे के अनुसार इस

टीका की रचना 1665 में हुई है । ऐसा लगता है कि काव्यप्रकाश का व्याख्यान शैवागम के अनुसार करना चाहते थे, जैसा कि इनकी टीका के आरम्भ से लगता है, किन्तु इसका निर्वाह नहीं किया है ।

13. "सारबोधिनी" (श्रीवत्सलाच्छन भट्टाचार्य)-

इस टीका में सुबुद्धिमिश्र, भास्कर, जयराम इन टीकाकारों के उल्लेख के साथ "प्रतापरुद्रयशोभूषण" के रचयिता विद्यानाथ का भी निर्देश मिलता है । विद्यानाथ आन्ध्र स्थित "एकशिला" के शासक प्रतापरुद्रदेव 1225-1323 ई. के आश्रित थे । विद्यानाथ का समय 13-14 शताब्दी माना है । विद्यानाथ ने काव्यप्रकाश की शैली पर "प्रतापरुद्रयशोभूषण" की रचना की है । पण्डितराज जगन्नाथ ने "रसगङ्गाधर" में सारबोधिनीकार का खण्डन 'इति श्री-वत्सलाञ्छनोक्तमुदाहरणं परास्तम्' कह कर किया है । "सारबोधिनी" में परमानन्द की विस्तारिका का स्थान-स्थान पर संक्षेप एवं विस्तार मिलता है । सारबोधिनीकार को श्रीवामनाचार्य झलकीकर नैयायिक मानते हैं, वैयाकरण नहीं, क्योंकि इन्होंने "इवेन-नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च" इस वार्तिक को "सूत्र" रूप में निर्देश किया है । काणे महाशय ने इनका समय 14 वीं शताब्दी के बाद तथा 16वीं के पूर्व निर्धारित किया है ।

सम्पूर्ण रूप से इस टीका का प्रकाशन गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद से हुआ है । "काव्यपरीक्षा" नाम से इनके एक ग्रन्थ का प्रकाशन दरभंगा से डा. प. ल. वैद्य के सम्पादकत्व में 1956 में हुआ है । वस्तुतः यह ग्रन्थ भी काव्यप्रकाश की एक टीका ही है । इनके एक और ग्रन्थ "ध्वनिसिद्धान्तसंग्रह" का भी उल्लेख मिलता है ।

14. काव्यप्रदीप (म. म. गोविन्द ठक्कुर)-

ये मिथिला में उत्पन्न हुए । इन्होंने स्वयं अपना परिचय दिया है, तदनुसार सोनो देवी तथा केशव के प्रथम पुत्र और रुचिकर कवि के सौतेले भाई थे । अपनी व्याख्या में इन्होंने भास्कर भट्ट तथा चण्डीदास भट्टाचार्य का उल्लेख किया है । इनके एक और सौतेले भाई थे जिनका नाम श्रीहर्ष था । श्रीहर्ष नैषधकार श्रीहर्ष

से भिन्न थे । गोविन्द ठक्कुर ने अपने इस भ्राता का एक पद्य अपनी टीका में, विरोध अलंकार के प्रसंग में उदाहृत किया है । म. म. काणे इनका समय 1400 ई. के बाद तथा 1550 के पूर्व निर्धारित करते हैं ।

काव्यप्रदीप काव्यप्रकाश पर लिखित प्रायः सभी व्याख्याओं में सर्वाधिक प्रतिष्ठित व्याख्यान है । इसी पर वैद्यनाथ तत्सत् ने "प्रभा" नाम से तथा नागेश भट्ट ने "उद्योत" नाम से गम्भीर टिप्पणियां लिखी है । प्रदीपकार ने "उदाहरणदीपिका" लिखी है जो काव्यप्रकाश के उदाहरणों का व्याख्यान है । "प्रभा" के साथ तथा "उद्योत" के साथ काव्यप्रदीप का क्रमशः निर्णयसागर प्रेस (बम्बई) से तथा आनन्दाश्रम (पूना) से प्रकाशन हुआ है ।

15. मधुमती (रवि ठक्कुर)-

ये अच्युत के पौत्र तथा रत्नपाणि के पुत्र थे । अच्युत ठक्कुर मिथिला के शासक शिवसिंह (15वीं शती का आरम्भ) के मन्त्री थे । मधुमतीकार रवि का समय, तदनुसार 15 वीं शती ई. का मध्य माना जा सकता है । रत्नपाणि ने काव्यप्रकाशदर्पण नाम से काव्यप्रकाश पर व्याख्यान लिखा था इसी का प्रतिबिम्बित भाव मधुमती द्वारा विवृत हुआ है, ऐसा रवि ठक्कुर ने स्वयं कहा है । टीकाकार ने अपनी पुत्री के नाम पर इस टीका का नामकरण किया है । परवर्ती टीकाकारों ने रवि और रत्नपाणि दोनों का उल्लेख किया है । इस टीका का प्रथम बार प्रकाशन प्राच्यविद्या संशोधनालय, मैसूर से हुआ है ।

16. कमलाकरी (कमलाकर भट्ट)-

कमलाकर भट्ट ने अपनी टीका में काव्यप्रकाश के अनेक टीकाकारों की आलोचना की है । ये काशी में रहते थे और इन्होंने 1612 ई. में अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "निर्णयसिन्धु" का निर्माण किया था । इनके अनेक ग्रन्थ मीमांसा, धर्मशास्त्र, वेदान्त आदि पर मिलते हैं । इनकी टीका का प्रथम प्रकाशन लीथो में हुआ है ।

17. उदाहरणचन्द्रिका (वैद्यनाथ)-

गोविन्द ठक्कुर की उदाहरणदीपिका की भांति यह टीका

काव्यप्रकाश के उदाहरणों की व्याख्या है । हम कह चुके हैं कि गोविन्द ठक्कुर के काव्यप्रदीप नाम से लिखित काव्यप्रकाश के व्याख्यान पर "प्रभा" नाम से इन्होंने गम्भीर टिप्पणी लिखी है । "चन्द्रिका" नाम से कुवलयानन्द पर भी इनका व्याख्यान प्रकाशित है । समय 1683-84 ई. ।

18. सुधासागर (भीमसेन दीक्षित)-

इन्होने अपनी टीका में अपना विस्तृत परिचय दिया है । इनकी टीका पर श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य तथा अन्य वङ्गीय टीकाकारों का अधिक प्रभाव है । ये अधिकतर कुछ परिवर्तन के साथ उनकी शब्दावली का भी उपयोग करते हैं । ये काव्यप्रकाशकार मम्मट को "वाग्देवतावतार" कह कर उल्लेख करते है और उनकी किसी प्रकार की आलोचना इन्हें सह्य नहीं थी । इन्होंने "अलंकारसारोद्धार" नाम से भी ग्रन्थ लिखा था । इन्होने "सुधासागर" का निर्माण 1723 ई. मे किया था ।

19. उद्योत (काव्यप्रदीप पर लिखित टिप्पणी) नागेश भट्ट-

ये विभिन्न व्याकरण ग्रन्थों, शब्देन्दुशेखर, परिभाषेन्दुशेखर, मञ्जूषा आदि के रचयिता तथा रसगङ्गाधर पर "गुरुमर्मप्रकाश" व्याख्यान के लेखक थे । ये महाराष्ट्र के निवासी थे, किन्तु वाराणसी में रहते थे । शृङ्गवेरपुर के शासक राम से इन्हें जीविका प्राप्त थी । 1713 ई. में इन्होंने रसमञ्जरी की टीका लिखी थी । "उद्योत" के कारण काव्यप्रकाश की गरिमा को निश्चित रूप से चार चाँद लगा है ।

20. काव्यप्रकाशविवरण (गोकुलनाथ उपाध्याय)-

समय 1675 ई. के मध्य । यह व्याख्यान सम्पूर्ण रूप से नैयायिक शैली मे लिखित है और अत्यन्त क्लिष्ट है । म. म. गोकुलनाथ ने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है । विवरण पांचवें उल्लास के कुछ अंश तक ही प्राप्त हुआ है । इसका प्रकाशन संस्कृत विश्वविद्यालय (वाराणसी) से हुआ है ।

21. बालबोधिनी (वामनाचार्य झलकीकर)-

यह टीका कई बार भंडारकर रिसर्च इंस्टिच्युट, पूना से प्रकाशित

हुई है । टीकाकार ने इसमें अनेक प्रकाशित-अप्रकाशित टीकाओं से सामग्री लेकर उपयोग किया है, जिससे इसकी उपयोगिता बढ़ गयी है । इस टीका की समाप्ति शक सं. 1804 मे हुई । काव्यप्रकाश के अध्येताओं में इसके प्रति विशेष अभिरुचि जागृत हुई है और उनके लिए यह सर्वथा संग्राह्य ग्रन्थ बन गया है ।

काव्यप्रकाश की सभी टीकाओं का सम्पूर्णतया उल्लेख यहां सम्भव नहीं है । हमने ऊपर कुछ प्रकाशित, टीका-ग्रन्थों तथा उनके लेखको के विषय में संक्षिप्त निर्देश किया है । काव्यप्रकाश के टीका-साहित्य का अनुसन्धान करने वाले न्यू कैटलागस कैटलागरम जैसे ग्रन्थों का अनुशीलन करें ।

काव्यप्रकाश पर रचित टीकाएं न केवल संस्कृत में, अपितु अन्य भाषाओं में भी उपलब्ध हैं, जिनमें म. म. गङ्गानाथ झा का अंग्रेजी अनुवाद तथा आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि का हिन्दी अनुवाद उल्लेखनीय हैं । इतना होने पर भी जैसा कि कहा गया है, काव्यप्रकाश "दुर्गम" बना हुआ है, यह बात अक्षरशः सत्य है ।

सहायक ग्रन्थ-सूची

काव्यप्रकाश : वामनाचार्य झलकीकर, भण्डारकर सस्थान, पूना 1950
"(काव्यप्रदीप एव प्रभा)" गोविन्द ठक्कुर, वैद्यनाथ, निर्णयसागर, सं. बम्बई
"(सकेत तथा मधुमती)" प्राच्यविद्यासशोधनालय, मैसूर
"(प्र. दि. तथा दशम)" गजेन्द्रगडकर सं. पापुलर प्रकाशन, बम्बई 1970
"(रसप्रकाश)" डां. एस .एन. घोषाल शास्त्री, चौखम्बा प्रकाशन, 1973
"बालचित्तानुरज्जनी, सारबोधिनी", दर्पण गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, प्रयाग ।
"आ. विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि" ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी शब्दव्यापारविचार (मुकुलभट्ट कृत अभिधावृत्तिमातृका के साथ) प. निर्णयसागर, बम्बई ।

इतिहास और आलोचना

हिस्ट्री आफ सस्कृत पोयटिक्स : एस. के. डे कलकत्ता, 1976
- पी. वी. काणे. मो. बनारसीदास 1961
आचार्य मम्मट : प्रो. घुंडिराज. गोपाल सप्रे, म. प्र. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी 1971
ध्वनिप्रस्थान में आचार्य मम्मट का अवदान : डा. जगदीश चन्द्र शास्त्री
रस सिद्धान्त : डॉ. नगेन्द्र
रससिद्धान्त के अनालोचित पक्ष : डॉ. व्रजमोहन चतुर्वेदी
काव्यालंकार (भामह) : डा. देवेन्द्र नाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् 1962